इग्नू
जन–जन का
विश्वविद्यालय

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मानविकी विद्यापीठ

BHDC - 101
हिन्दी साहित्य का इतिहास
(रीतिकाल तक)

"शिक्षा मानव को बन्धनों से मुक्त करती है और आज के युग में तो यह लोकतन्त्र की भावना का आधार भी है। जन्म तथा अन्य कारणों से उत्पन्न जाति एवं वर्गगत विषमताओं को दूर करते हुए मनुष्य को इन सबसे ऊपर उठाती है।"

– इन्दिरा गाँधी

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

"Education is a liberating force, and in our age it is also a democratising force, cutting across the barriers of caste and class, smoothing out inequalities imposed by birth and other circumstances."

– Indira Gandhi

इग्नू
जन-जन का
विश्वविद्यालय

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मानविकी विद्यापीठ

BHDC 101
हिंदी साहित्य का इतिहास (रीतिकाल तक)

खंड

1

हिंदी साहित्य के इतिहास की भूमिका और आदिकाल

इकाई 1

कालविभाजन और नामकरण की समस्या 7

इकाई 2

हिंदी साहित्य की पृष्ठभूमि 24

इकाई 3

आदिकालीन परिस्थितियों का अध्ययन 46

इकाई 4

आदिकालीन काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ 66

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

प्रो. मैनेजर पाण्डेय
बीडी/8ए, डी.डी.ए. फ्लैट, मुनिरका
नई दिल्ली-110067

प्रो. निर्मला जैन
ए–20/17, डी.एल.एफ., सिटी, फेज-1
गुड़गांव-122002, हरियाणा

डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी
बी-5, एफ-2, दिलशाद गार्डन
दिल्ली-110095

प्रो. हरिमोहन शर्मा
184, कादम्बरी अपार्टमेंट, सेक्टर-9,
रोहिणी,, दिल्ली-110085

प्रो. गोबिंद प्रसाद
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

संकाय सदस्य

प्रो. सत्यकाम (निदेशक)
प्रो. शत्रुघ्न कुमार
प्रो. स्मिता चतुर्वेदी (पाठ्यक्रम संयोजक)
प्रो. जितेंद्र कुमार श्रीवास्तव

पाठ्यक्रम संयोजक

प्रो. स्मिता चतुर्वेदी
हिंदी सकाय, मानविकी विद्यापीठ
इग्नू, नई दिल्ली

पाठ्यक्रम निर्माण समिति

इकाई लेखक	इकाई सं.
प्रो. सत्यकाम मानविकी विद्यापीठ इग्नू, नई दिल्ली	1 और 2
प्रो. पूरन चंद टंडन हिंदी विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	3
प्रो. स्मिता चतुर्वेदी मानविकी विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली	4

पाठ्यक्रम संयोजक एवं संपादक

प्रो. स्मिता चतुर्वेदी
हिंदी संकाय, मानविकी विद्यापीठ
इग्नू, नई दिल्ली

सहयोग

डॉ. दिनेश कुमार
अरुण कुमार पाण्डेय
परामर्शदाता, हिंदी, मानविकी विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली

सचिवालयीय सहयोग

श्री नवल कुमार
मानविकी विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली

आवरण

सुश्री अरविन्दर चावला
ए.डी.ए. ग्राफिक्स, नई दिल्ली

सामग्री निर्माण

श्री तिलक राज
सहायक कुलसचिव (प्रकाशन)
सा.नि. एवं वि.प्र., इग्नू, नई दिल्ली

श्री बाबूलाल रेवाड़िया
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)
सा.नि. एवं वि.प्र., इग्नू, नई दिल्ली

जनवरी, 2020

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2020

ISBN : 978-93-89668-50-6

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश, मिमियोग्राफ या किसी भी अन्य रूप में, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी अन्य व्यक्ति द्वारा पुनरुत्पादित नहीं किया जा सकता है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय से संबंधित सूचना प्राप्त करने के लिए इसके मैदान गढ़ी, नई दिल्ली–110 068 स्थित कार्यालय से संपर्क किया जा सकता है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से कुलसचिव, सामग्री निर्माण एवं वितरण प्रभाग द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

लेजर कम्पोजिंग: राजश्री कम्प्यूटर्स, V-166A, भगवती विहार, उत्तम नगर, (नजदीक सैक्टर 2, द्वारका), नई दिल्ली–59

मैसर्सः राज प्रिंटर्स, ए–9, सैक्टर बी–2, ट्रॉनिका सिटी, लोनी, गाजियाबाद (यू.पी.)

पाठ्यक्रम परिचय

इतिहास का संबंध अतीत की वास्तविक घटनाओं से है। इसमें किसी भी तथ्य, तत्व और प्रवृत्ति का वर्णन, विवेचन और विश्लेषण कालक्रम की दृष्टि से किया जाता है। इतिहास में घटनाएँ होती हैं, तथ्य होते हैं, पर वे अपने आप में इतिहास नहीं हैं। वे इतिहास के साधन मात्र हैं। इतिहास इन तथ्यों और घटनाओं से परिचित अवश्य कराता है, पर महत्वपूर्ण बात यह है कि हम उन घटनाओं की व्याख्या किस ढंग से करते हैं, हम कौन सी दृष्टि अपनाते हैं। वस्तुतः इतिहास तथ्य और दृष्टिकोण, अनुसंधान और व्याख्या का सामंजस्य प्रस्तुत करता है। इतिहासकार तथ्यों का संकलन करता है और अपने तथा अपने युग के दृष्टिकोण के अनुरूप उनकी व्याख्या करता है। वह नए-नए तथ्यों की खोज करता है, पुराने तथ्यों की व्याख्या करता है और इस प्रकार शोध तथा व्याख्या में क्रिया-प्रतिक्रिया का संबंध बराबर बना रहता है।

इतिहास न केवल अतीत के बारे में हमें बताता है बल्कि वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में उसका पुनर्मूल्यांकन करता है और इसके साथ ही साथ भविष्य की कल्पना करता है। इस प्रकार इतिहास, वर्तमान और भविष्य में एक संबंध स्थापित करता है। दूसरे शब्दों में इतिहास अतीत और वर्तमान का संवाद है और इस रूप में इतिहास मात्र बीते हुए दिन की वस्तु न बनकर आज के लिए भी अपनी प्रासंगिकता सिद्ध करता है।

साहित्य का इतिहास अतीत में लिखे गए साहित्य या साहित्यकार का ब्यौरा मात्र नहीं है। जिस प्रकार इतिहास आज राजाओं के जीवन-चरित्र एवं राजनीतिक घटनाओं का संकलन मात्र नहीं है, उसी प्रकार साहित्य का इतिहास मात्र रचनाओं और रचयिताओं का परिचय-ग्रंथ नहीं है। किसी भी साहित्य के इतिहास को समझने के लिए उससे संबंधित जातीय परंपराओं, राष्ट्रीय और सामाजिक स्थिति एवं सामाजिक परिस्थितियों का विवेचन-विश्लेषण जरूरी है। इसका कारण यह है कि किसी भी देश का साहित्य उस देश के सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक वातावरण को प्रतिबिंबित करता है। साहित्य की प्रवृत्तियाँ समाज की प्रवृत्तियों का प्रतिबिंब होती हैं। साहित्य का इतिहास व्यक्ति-विशेष की उपलब्धियों के साथ-साथ इन प्रवृत्तियों का भी विश्लेषण करता है।

वस्तुतः साहित्य की प्रगति, परंपरा, निरंतरता और विकास को पहचानना ही साहित्य के इतिहास का प्रयोजन है। इसके अतिरिक्त यह परिवर्तन और निरंतरता को भी व्याख्यायित करता है। साहित्येतिहास साहित्य की विकासशील प्रक्रिया का उद्घाटन करता है और इस क्रम में नए और पुराने के संघर्ष को भी रेखांकित करता चलता है। इसके अतिरिक्त इसमें विभिन्न आंदोलनों, परिवर्तनों और नवीन प्रयोगों के संबंध का भी विवेचन होता है।

साहित्येतिहास के संदर्भ में महत्वपूर्ण बात यह है कि इसमें भी अन्य इतिहासों की तरह वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अतीत का मूल्यांकन किया जाता है। इतिहास मूलतः मूल्यांकनपरक होता है। यह मूल्यांकन ही उसे वर्तमान के लिए उपयोगी और प्रासंगिक बनाता है। साहित्येतिहास पर भी यह बात लागू होती है। अतः साहित्य के इतिहास-लेखन में अतीत को ठीक से परखने और समझने के लिए वर्तमान की सही समझ जरूरी है। वर्तमान से कटी हुई इतिहास चेतना न तो अतीत को समझ पाती है न ही वर्तमान को।

साहित्य के इतिहास में कृतियों का मूल्यांकन भी किया जाता है। उसके विचार पक्ष और कला पक्ष पर विचार किया जाता है। किंतु साहित्य का इतिहास केवल रूप और वस्तु का इतिहास नहीं होता, वह रचना में व्यक्त रचनाकार की सृजनशील चेतना का भी इतिहास होता है।

साहित्येतिहास में विचार, प्रक्रिया और सुसंगत दृष्टिकोण का विशेष महत्व है। ऐसी विचार प्रक्रिया, जिसमें प्रत्येक परिवर्तन की व्याख्या हो, किसी भी साहित्येतिहास को समग्रता में प्रस्तुत करने में सक्षम होती है। साहित्य के इतिहास में एक ओर जनता की चित्तवृत्ति, परंपरा, नए-पुराने के संघर्ष का मूल्यांकन होता है तो दूसरी ओर रचना और रचनाकार की सृजनात्मक क्षमता को भी वर्तमान की कसौटी पर कसा जाता है।

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

इस प्रकार साहित्य के इतिहास में समाज की विकास-कथा तो होती ही है, साथ ही साथ उसमें कला-पक्ष का भी मूल्यांकन होता है। साहित्येतिहास भाव-बोध के विकास-क्रम को निरूपित करने के साथ-साथ अभिव्यंजना शिल्प के क्रमिक विकास को भी दर्शाता है। उसमें युग विशेष के व्यक्तित्व का उद्‌घाटन होता है। उसमें जहाँ एक ओर जातीय जीवन की प्रामाणिक झाँकी देखने को मिलती है, वहाँ दूसरी ओर साहित्यिक मूल्यों का मूल्यांकन भी होता है। यह एक मिली-जुली विधा है जिसमें शोध, इतिहास, समीक्षा सबके तत्व सम्मिलित होते हैं।

किसी भी देश, समाज या भाषा का साहित्य उसकी जनता की चित्तवृत्तियों का ऐसा प्रतिबिंब होता है जो चित्तवृत्तियों के बदलने से परिवर्तित तो होता ही है उन्हें बदलने में भी सहायक या प्रेरक बनता है। साहित्य मनुष्य के परिष्कृत भावों-विचारों को अभिव्यक्ति देने में सक्रिय भूमिका निभाता है और सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक राजनीतिक एवं आर्थिक आदि स्थितियों, घटनाओं, समस्याओं एवं संघर्षों से प्रेरित-प्रभावित होकर अतीत से वर्तमान तक का स्पष्ट चित्र भी प्रस्तुत करता है। अतः आदि से वर्तमान तक की चित्तवृत्तियों एवं स्थितियों-परिस्थितियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य-परंपरा के रूप में प्रस्तुत करने वाला ''साहित्य का इतिहास'' मूलतः भविष्योन्मुख होता है। यही इसकी गत्यात्मकता का परिचायक है।

इस पाठ्‌यक्रम में कुल तीन खंड हैं जिसमें कुल 13 इकाइयाँ प्रस्तुत की गई हैं। किसी समय-विशेष के कारण जन-सामान्य में हो रहे रुचि-विशेष के संचार एवं पोषण का लेखा-जोखा प्रस्तुत करते हुए उसके कारण एवं स्रोतों की समीक्षात्मक विवेचना करने वाले लगभग 1000 वर्षों के इतिहास को चार प्रमुख कालों में विभक्त किया गया है। इस पाठ्‌यक्रम के अंतर्गत तीन कालों- आदिकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल पर विचार किया जाएगा। इस पाठ्‌यक्रम में आप इतिहास संबंधी अवधारणाओं को जानते हुए समय और प्रवृत्ति आदि के आधार पर हुए विभाजन तथा उनकी सामाजिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझ सकेंगे। आदिकाल से लेकर रीतिकाल तक की इस पूरी यात्रा में आप युग-चेतना का, नैतिक, सामाजिक एवं साहित्यिक मूल्यों के बदलाव का, बदलती परिस्थितियों का तथा प्रमुख प्रवृत्तियों और विशेषताओं का परिचय प्राप्त करेंगे।

तीन खंडों में विभक्त इस पाठ्‌यक्रम में गत्यात्मक विकास और तारतम्यता को पूरी तरह ध्यान में रखा गया है। पाठ्‌यक्रम का पहला खंड है – हिंदी साहित्य के इतिहास की भूमिका और आदिकाल'। इस खंड में आप काल विभाजन और नामकरण की समस्या, हिंदी साहित्य की पृष्ठभूमि, आदिकालीन परिस्थितियों का अध्ययन और आदिकालीन काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का अध्ययन करेंगे।

दूसरे खंड 'भक्तिकालीन साहित्य' के अंतर्गत भक्ति आंदोलन, भक्तिकालीन परिस्थितियों तथा समग्र भक्ति काव्य के दार्शनिक और वैचारिक आधारों की समीक्षा दो इकाइयों में प्रस्तुत की गई है। आगे की चार इकाइयों में भक्तिकालीन निर्गुण (संत काव्य एवं सूफ़ी काव्य) तथा सगुण (रामकाव्य एवं कृष्णकाव्य) काव्यधाराओं की परंपरा एवं विकास का विस्तृत विवेचन किया गया है।

तीसरा खंड 'रीतिकालीन काव्य' है। इसकी तीन इकाइयों में रीतिकाल की परिस्थितियों और प्रमुख प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया गया है। रीतिबद्ध काव्य, रीतिसिद्ध काव्य और रीतिमुक्त काव्य की सामान्य विशेषताओं के साथ-साथ उनकी आपसी भिन्नता को भी दर्शाया गया है। रीतिकाल में लिखे गए श्रृंगारेतर काव्य पर भी अलग से विचार किया गया है।

इस प्रकार, हिंदी साहित्य के इतिहास के अंतर्गत आदिकाल से लेकर रीतिकाल तक के कालखंड को पर्याप्त विस्तार और गहराई के साथ तार्किक एवं प्रामाणिक बनाकर आपके समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है। हमें विश्वास है कि पाठ्‌यक्रम की यह प्रकृति आपको स्पष्ट और सहज लगेगी। प्रत्येक इकाई अथवा खंड के साथ कुछ महत्वपूर्ण पुस्तकों की सूची भी प्रस्तुत है। विषय संबंधी अतिरिक्त गहनता एवं व्यापकता के लिए आप इनका अध्ययन भी करें।

खंड परिचय

आपके सामने हिंदी साहित्य का इतिहास (रीतिकाल तक) पाठ्यक्रम का पहला खंड 'हिंदी साहित्य के इतिहास की भूमिका और आदिकाल' उपस्थित है। इस खंड के अंतर्गत आपको हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन से संबंधित कुछ बुनियादी समस्याओं से परिचित कराने के साथ-साथ हिंदी साहित्य की शुरूआत और उससे ठीक पहले की साहित्यिक पृष्ठभूमि से विस्तारपूर्वक अवगत कराया जाएगा। इस खंड को चार इकाइयों में बाँटा गया है।

हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन के समय प्रत्येक इतिहासकार के सामने सबसे पहली समस्या यही आती है कि हिंदी साहित्य का आरंभ कब से माना जाए? भाषा का प्रवाह खंडित प्रवाह न होकर सतत प्रवाह होता है। इसलिए पुरानी भाषा और नई भाषा के बीच के उस विभाजक बिंदु को पहचानना और रेखांकित करना अत्यंत मुश्किल काम है। अपभ्रंश और हिंदी के बीच कुछ ऐसा ही रिश्ता है। विद्वानों में इस बात पर पर्याप्त मतभेद है कि अपभ्रंश को हिंदी साहित्य के अंतर्गत रखा जाए या नहीं? दूसरी समस्या यह सामने आती है कि लगभग हजार वर्षों के हिंदी साहित्य के इतिहास को कितने भागों में विभाजित किया जाए और उस विभाजन का आधार क्या हो? अर्थात् साहित्येतिहास के संदर्भ में काल विभाजन और नामकरण की समस्या एक बड़ी समस्या है। हिंदी साहित्य के काल-विभाजन और नामकरण को लेकर भी इतिहासकारों के बीच काफी मतभेद हैं। इस खंड की इकाई-1 के अंतर्गत आपको नामकरण और काल विभाजन की समस्याओं के विभिन्न पहलुओं की जानकारी दी जाएगी जिससे आपके लिए हिंदी साहित्य के इतिहास को समझना आसान हो जाएगा।

इकाई-2 के अंतर्गत हिंदी साहित्य की पूर्वपीठिका के रूप में अपभ्रंश की महत्वपूर्ण रचनाओं पर विचार किया गया है। इसी प्रक्रिया में अपभ्रंश और हिंदी साहित्य के संबंध का भी विश्लेषण किया गया है। इस इकाई में यह बताया गया है कि हिंदी साहित्य के आरंभ होने से ठीक पहले अपभ्रंश में सशक्त रचनाएँ लिखी जा रही थीं। एक तरफ स्वयंभू और पुष्पदंत जैसे जैन कवि थे तो दूसरी तरफ सरहपा और कण्हपा जैसे सिद्ध कवि संदेश रासक के रचयिता अब्दुर्रहमान को कोई कैसे भूल सकता है? अपभ्रंश के धार्मिक साहित्य का हिंदी के भक्तिकाल और शृंगारपरक साहित्य का हिंदी के रीतिकाल से बहुत गहरा रिश्ता है। विषय-वस्तु और अभिव्यंजना दोनों ही दृष्टियों से हिंदी साहित्य पर अपभ्रंश साहित्य के गहरे प्रभाव को देखा जा सकता है। इस इकाई के द्वारा आप उन प्रभावों को समझने के साथ ही यह भी जान पाएँगे कि हिंदी साहित्य के विकास को समझने के लिए अपभ्रंश साहित्य का विस्तृत अवलोकन क्यों आवश्यक है?

आदिकालीन काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों को जानने से पहले इकाई-3 में आपको आदिकालीन परिस्थितियों से अवगत कराया गया है। आदिकाल के अर्थ और स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आदिकाल के काल-निर्धारण और नामकरण की समस्या को भी विशेष तौर पर यहाँ उठाया गया है। इस इकाई में आदिकालीन राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के साथ-साथ साहित्यिक परिस्थितियों का भी विस्तृत विवेचन किया गया है। आदिकालीन परिस्थितियों का स्पष्ट प्रभाव आदिकालीन साहित्य पर दिखाई देता है। राजनीतिक दृष्टि से उत्तर भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। धार्मिक दृष्टि से बौद्ध धर्म अपनी जमीन खो रहा था और तंत्र-मंत्र की साधना में बदल गया था। वैष्णव धर्म का प्रभाव तो था पर इस दौर में उस मत का साहित्य कम मिलता है। इस्लाम के आगमन से शुरू-शुरू में सांस्कृतिक टकराहट तो दिखाई देती है पर बाद में धीरे-धीरे सांस्कृतिक एकता की भी गुंजाइश बनी। आदिकाल राजनीतिक दृष्टि से ही नहीं धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी अत्यंत उथल-पुथल का युग था। इस इकाई में आपको विस्तार से उस दौर की राजनीतिक उठा-पटक, इस्लाम का आगमन, दो संस्कृतियों के बीच विरोध और संवाद तथा सामाजिक विघटन की स्थिति से अवगत कराया जाएगा।

आदिकालीन परिस्थितियों की जानकारी प्राप्त करने के बाद इकाई-4 में आप आदिकालीन साहित्य की मुख्य प्रवृत्तियों से परिचित होंगे। आदिकालीन साहित्य वैविध्यपूर्ण है। इस काल में परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं। इन परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों का विस्तृत विवेचन इस इकाई में किया गया है। इस काल में धर्म, वीर, शृंगार, और नीतिपरक रचनाएँ प्रचुर मात्रा में लिखी गईं। जैन, सिद्ध और नाथ कवियों का साहित्य धार्मिक साहित्य की कोटि में आता है। रासो साहित्य इस काल का प्रमुख साहित्य है। प्रमुख रासो कृतियों को तीन भागों-वीरगाथात्मक, शृंगारपरक एवं धार्मिक तथा उपदेशमूलक में बाँटकर स्पष्टता से समझाया गया है। इनके अतिरिक्त आदिकाल के दो महत्वपूर्ण कवियों.अमीर खुसरो और विद्यपति की रचनाओं और उनकी काव्यगत विशेषताओं से भी आपको अवगत कराया गया है।

आपकी सुविधा के लिए हमने प्रत्येक इकाई के अंतर्गत बीच-बीच में विविध तरह के बोध प्रश्न दिए हैं। इन प्रश्नों के माध्यम से आप अध्याय के महत्वपूर्ण बिंदुओं को फिर से याद कर सकते हैं। प्रश्नों के उत्तर भी इकाई के अंत में दे दिए गए हैं ताकि आप अपने उत्तर से उसका मिलान कर सकें। इकाई के अंत में कठिन शब्दों के अर्थ और उस विषय से संबंधित उपयोगी पुस्तकों की सूची दी गई है। अगर कुछ अतिरिक्त जानने की जिज्ञासा हो तो आप उन पुस्तकों को पढ़ सकते हैं।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 1 कालविभाजन और नामकरण की समस्या

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 कालविभाजन और नामकरण की आवश्यकता

1.3 कालविभाजन और नामकरण का आधार

1.4 हिंदी साहित्य के कालविभाजन की समस्या

1.4.1 हिंदी साहित्य के कालविभाजन के विभिन्न प्रयास

1.5 नामकरण संबंधी विवाद

1.5.1 आदिकाल

1.5.2 भक्तिकाल

1.5.3 रीतिकाल

1.5.4 आधुनिक काल

1.6 सारांश

1.7 शब्दावली

1.8 उपयोगी पुस्तकें

1.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.0 उद्देश्य

इस इकाई में 'कालविभाजन और नामकरण' की समस्या पर विचार किया जा रहा है। इसे पढ़ने के बाद आपः

- इतिहास में कालविभाजन और नामकरण की आवश्यकता पर प्रकाश डाल सकेंगे;
- कालविभाजन और नामकरण के आधारों को पहचान सकेंगे;
- हिंदी साहित्येतिहास के कालविभाजन की समस्या को रेखांकित कर सकेंगे; और
- हिंदी साहित्य के कालविभाजन और नामकरण के विभिन्न प्रयासों का उल्लेख कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

अब आप बी.ए. हिंदी के अनिवार्य पाठ्यक्रम में हिंदी साहित्य के इतिहास के अंतर्गत उसकी प्रथम इकाई का अध्ययन आरंभ कर रहे हैं, जिसमें हम कालविभाजन और नामकरण की समस्या पर विचार करेंगे। प्रत्येक इतिहास में अतीत का अध्ययन किया जाता है किंतु अध्ययन की सुविधा के लिए अतीत काल को कई काल खंडों या युगों में

बाँट लिया जाता है। साथ ही प्रत्येक काल को किसी न किसी नाम से पुकारा जाता है। इसी प्रक्रिया को 'कालविभाजन' और 'नामकरण की प्रक्रिया' कहा जाता है। हिंदी साहित्य के इतिहास के अध्ययन के लिए भी उसका कालविभाजन और उसके काल खण्डों का नामकरण किया गया है। पर यह कालविभाजन और नामकरण किस आधार पर किया जाता है? इसको करने की आवश्यकता क्या है? अब तक अलग-अलग विद्वानों ने जो कालविभाजन किया है, वह कहाँ तक उचित है? इन प्रश्नों पर इस पाठ में विचार किया जाएगा, जिससे कालविभाजन और नामकरण की समस्या को भली-भाँति समझा जा सके। कालविभाजन पर विचार करते समय हमें यह बात भली-भाँति समझ लेनी चाहिए कि कालविभाजन केवल अध्ययन की सुविधा के लिए किया जाता है। जैसे हम एक राज्य की शासन व्यवस्था के लिए उसे कई जिलों में बाँट लेते हैं और जिलों को भी तहसीलों में बाँट लेते हैं, उसी प्रकार इतिहास में भी अतीत काल को भली-भाँति समझने के लिए कई खंडों और युगों में बाँट लेते हैं। फिर यह भी ध्यान में रखने की बात है कि हर एक विद्वान कालविभाजन अपनी-अपनी दृष्टि से करता है। ऐसी स्थिति में यह भी संभव है कि अलग-अलग साहित्येतिहास लेखकों के द्वारा किया गया कालविभाजन आपस में मेल न खाए। अतः इन बातों को ध्यान में रखते हुए ही हमें कालविभाजन की समस्या पर विचार करना है।

1.2 कालविभाजन और नामकरण की आवश्यकता

इतिहास को सही ढंग से समझने के लिए कालविभाजन और नामकरण आवश्यक है। साहित्येतिहास भी इसका अपवाद नहीं है। कालविभाजन और नामकरण करने से इतिहास में एक प्रकार की व्यवस्था भी आती है। रेनेवेलेक का कहना ठीक है कि कालविभाजन के बिना साहित्य का इतिहास घटनाओं की अर्धव्यवस्था का समूह, मनमाना नामकरण और साहित्य का दिशाहीन प्रवाह हो जाता है। वस्तुतः कालविभाजन, में साहित्य के विकास की दिशा, विकास को प्रभावित करने वाले तत्वों, विभिन्न परिवर्तनों और मोड़ों का पता चलता है। इसके जरिए हम साहित्य विशेष की बदली प्रवृत्तियों को समझ पाते हैं और उनका मूल्यांकन कर पाते हैं।

समय बदलने के साथ-साथ युग की परिस्थितियाँ और प्रवृत्तियाँ बदलती रहती हैं। इतिहास का अध्ययन करने के लिए प्रत्येक युग की परिस्थितियों और प्रवृत्तियों पर भी विचार किया जाता है। सभी युगों की परिस्थितियाँ और प्रवृत्तियाँ एक जैसी नहीं होती, इसीलिए इतिहास को उसकी परिस्थितियों के बदलने के अनुसार अलग-अलग कालों में बाँटना पड़ता है; फिर उन कालों या युगों की पहचान के लिए कोई न कोई नाम देना पड़ता है। इसीलिए इतिहास के अध्ययन में कालविभाजन और नामकरण की आवश्यकता पड़ती है।

1.3 कालविभाजन और नामकरण का आधार

अब आपके सामने यह स्पष्ट है कि कालविभाजन और नामकरण का उद्देश्य इतिहास की विभिन्न परिस्थितियों के संदर्भ में उसकी घटनाओं एवं प्रवृत्तियों के विकासक्रम को स्पष्ट करना होता है। साहित्य की अन्तर्निहित चेतना के क्रमिक विकास, परंपराओं के उत्थान-पतन और विभिन्न प्रवृत्तियों के उदय को स्पष्ट करना ही कालविभाजन और नामकरण का उद्देश्य है।

साहित्य का विकास समाज के बीच होता है। समाज में जब कोई बड़ा परिवर्तन आता है, तो साहित्य पर भी उसका प्रभाव पड़ता है। इस स्थिति में साहित्येतिहास का कालविभाजन सामाजिक या राजनीतिक इतिहास से अप्रभावित नहीं रह सकता। पर साहित्य का अपना

स्वतंत्र अस्तित्व होता है और वह राजनीति की अनुचर नहीं है। अतः राजनीतिक अथवा सामाजिक इतिहास का सहारा वहीं तक लिया जाना चाहिए, जहाँ तक वह साहित्य की मूल चेतना को प्रभावित करती हो। वस्तुतः साहित्य के इतिहास का युग विभाजन और नामकरण का आधार साहित्यिक प्रवृत्ति और चेतना ही होनी चाहिए।

कालविभाजन और नामकरण के लिए कभी ऐतिहासिक कालक्रम को आधार बनाया जाता है, तो कभी शासक और शासनकाल को आधार बनाया जाता है। कभी किसी साहित्यकार, राष्ट्रीय, सामाजिक, सांस्कृतिक या साहित्यिक प्रवृत्ति को कालविभाजन और नामकरण का आधार बनाया जाता है।

वस्तुतः कालविभाजन और नामकरण का आधार साहित्यिक प्रवृत्ति और मूल साहित्यिक चेतना ही होनी चाहिए। जहाँ ऐसा होता है, वहाँ नामकरण के संबंध में कोई दिक्कत पेश नहीं आती। पर यह जरूरी नहीं है कि किसी कालखंड विशेष में एक साहित्यिक प्रवृत्ति की ही प्रधानता हो। इस स्थिति में हमें दूसरे आधारों की ओर बढ़ना पड़ता है। कभी किसी राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना का प्रभाव पूरे कालखंड के साहित्य पर पड़ता है (जैसे भक्ति, पुनर्जागरण), कभी किसी व्यक्ति (साहित्यिक या राजनीतिक) का प्रभाव उस कालखंड के साहित्य पर पड़ता है (जैसे भारतेंदु युग, द्विवेदी युग आदि)।

अतः कालविभाजन और नामकरण करते समय अनेक आधारों का सहारा लेना पड़ता है। कालविभाजन और नामकरण में एकरूपता का आग्रह ठीक नहीं है। कालविभाजन और नामकरण विवेक सम्मत होना चाहिए। सही कालविभाजन और नामकरण वही है, जो साहित्य की परंपरा को सही रूप में व्यक्त करने में सहायक हो। इसे संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है :

1. कालविभाजन का आधार साहित्यिक प्रवृत्ति होना चाहिए।
2. नामकरण भी साहित्यिक प्रवृत्ति के अनुसार करना चाहिए; ऐसा संभव न होने की स्थिति में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक प्रवृत्ति को आधार बनाया जा सकता है।
3. युगों की सीमा का निर्धारण मूल प्रवृत्तियों के शुरू होने और अस्त होने पर आधारित होना चाहिए। जहाँ से साहित्य की मूल चेतना में परिवर्तन दृष्टिगत हो वहीं से नए काल की शुरूआत मानी जानी चाहिए।

बोध प्रश्न

1. निम्नलिखित कथनों में से सही उत्तर चुनकर (✓) का निशान लगाएँः

   इतिहास के कालविभाजन और नामकरण की आवश्यकता क्यों पड़ती है?

   क) अध्ययन की सुविधा के लिए ( )

   ख) इतिहास को सही ढंग से समझने के लिए ( )

   ग) कालविभाजन और नामकरण की कोई आवश्यकता नहीं है ( )

   घ) क और ख दोनों सही हैं ( )

2. कालविभाजन और नामकरण का मुख्य आधार क्या होता है? (दो-तीन पंक्तियों में उत्तर दें)-

   ....

   ....

   ....

   ....

3. कालविभाजन और नामकरण करते समय इतिहासकार किन-किन बातों को ध्यान में रखता है? (पाँच पंक्तियों में उत्तर दें)

....

....

....

....

....

1.4 हिंदी साहित्य के कालविभाजन की समस्या

जब हिंदी साहित्य के इतिहास का कालविभाजन करने की चेष्टा करते हैं तो हमारे सामने कई समस्याएँ उपस्थित होती हैं। सबसे पहले तो इस बात का निर्णय करना कठिन है कि हिंदी साहित्य का इतिहास कब से आरंभ होता है; क्योंकि इसके बारे में भी विद्वानों के अलग-अलग मत हैं। हिंदी साहित्य के सुप्रसिद्ध इतिहास लेखक जार्ज ग्रियर्सन ने अपने इतिहास ग्रंथ में हिंदी साहित्य का आरंभ सातवीं शताब्दी से ही माना है। परंतु दूसरे इतिहासकार इस मत को स्वीकार नहीं करते। आचार्य रामचंद्र शुक्ल का मत है कि पुरानी हिंदी का जन्म तो सातवीं शताब्दी के आस-पास हो गया था तथा उसमें सिद्धों, जैनियों एवं नाथपंथियों ने काव्य भी लिखा था, पर उनके काव्य में अपने-अपने धर्म-संप्रदाय की शिक्षाएँ दी गई हैं। इसीलिए उनमें काव्य के गुण कम मिलते हैं। इसलिए आचार्य शुक्ल इन कवियों के द्वारा रचे हुए काव्य को कोरी 'सांप्रदायिक शिक्षा' मानकर काव्य के रूप में स्वीकार नहीं करते। उनका विचार था कि हिंदी का वास्तविक काव्य वह है जो कि विक्रमी संवत् 1050 (993 ई.) के बाद से लिखा गया। कहने का तात्पर्य यह है कि आचार्य शुक्ल के मतानुसार हिंदी साहित्य के इतिहास का आरंभ संवत् 1050 या 993 ई. से ही मानना चाहिए। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य का आरंभ दसवीं शताब्दी से मानते हैं। डॉ. रामकुमार वर्मा और डॉ. नगेंद्र इसका आरंभ सातवीं शताब्दी से मानते हैं।

हिंदी साहित्य का आरंभ कब से माना जाए, इसके बारे में एक समस्या और भी है। वह है हिंदी भाषा और अपभ्रंश भाषा के पारस्परिक संबंध की। भाषा विज्ञान के विद्वान कहते हैं कि प्राकृत भाषा से अपभ्रंश भाषा का और अपभ्रंश भाषा से आधुनिक भारतीय भाषाओं जिनमें हिंदी भी एक है, का विकास हुआ। इस दृष्टि से अपभ्रंश भाषा हिंदी की जननी है। परन्तु कुछ विद्वान अपभ्रंश को हिंदी से अलग न मानकर हिंदी का ही एक रूप मानते हैं। उदाहरण के लिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपभ्रंश को 'प्राकृताभास हिंदी' (ऐसी हिंदी जिसमें प्राकृत का आभास हो) माना है, तो राहुल सांकृत्यायन ने अपभ्रंश को 'पुरानी हिंदी' की संज्ञा देते हुए अपभ्रंश के सारे कवियों को हिंदी के कवियों के रूप में स्वीकार किया है। अगर राहुल सांकृत्यायन के मत को स्वीकार कर लेते हैं तो हिंदी साहित्य का आरंभ सातवीं शताब्दी से ही सिद्ध हो जाता है और उस स्थिति में अपभ्रंश के सबसे पहले कवि सरहपाद ही हिंदी के पहले कवि सिद्ध होते हैं। डॉ. नगेन्द्र के द्वारा संपादित इतिहास में भी सरहपाद को हिंदी का पहला कवि माना गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी के विद्वानों के मुख्यतः दो वर्ग हैं:

1. एक वर्ग में वे विद्वान आते हैं जो हिंदी और अपभ्रंश को एक मानते हुए हिंदी का आरंभ सातवीं शताब्दी से स्वीकार करते हैं।

2. दूसरे वर्ग में वे विद्वान आते हैं जो कि अपभ्रंश को हिंदी से अलग मानते हुए दसवीं शताब्दी के बाद से हिंदी साहित्य का आरंभ मानते हैं।

परंतु अब इस बात का निर्णय हो गया है कि अपभ्रंश और हिंदी दोनों एक भाषा नहीं हैं। निश्चय ही अपभ्रंश हिंदी की जननी है। उससे न केवल हिंदी, अपितु उत्तर भारत की और भी कई भाषाएँ जैसे पंजाबी, गुजराती, मराठी, बंगला आदि विकसित हुई हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी इस मत का दृढ़ता से खंडन किया है कि हिंदी और अपभ्रंश एक हैं, अस्तु अब भाषा विज्ञान और साहित्य के क्षेत्र के प्रायः सभी विद्वानों ने यह मत स्वीकार कर लिया है कि अपभ्रंश और हिंदी एक नहीं है, अपितु अलग-अलग भाषाएँ हैं। अतः आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के इस मत को स्वीकार कर लेना चाहिए कि हिंदी भाषा और साहित्य का आरंभ दसवीं शताब्दी से हुआ है। दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक का साहित्य अपभ्रंश से भिन्न भाषा का साहित्य है। वस्तुतः इसमें हिंदी की आधुनिक बोलियों के पूर्वरूप की झलक मिल जाती है। इसी कारण हिंदी साहित्य के इतिहास लेखक दसवीं शताब्दी से हिंदी साहित्य का आरंभ स्वीकार करते हैं।

1.4.1 हिंदी साहित्य के कालविभाजन के विभिन्न प्रयास

हिंदी साहित्येतिहास के कालविभाजन का प्रथम श्रेय जार्ज ग्रियर्सन को जाता है। इसके बाद मिश्रबंधुओं, रामचंद्र शुक्ल और हजारीप्रसाद द्विवेदी ने हिंदी साहित्य के काल विभाजन का प्रयत्न किया है। इनके अतिरिक्त भारतीय हिंदी परिषद (डॉ. धीरेन्द्र वर्मा द्वारा संपादित) और डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त ने भी कालविभाजन का प्रयत्न किया है। आइए, विभिन्न विद्वानों द्वारा किए गए कालविभाजन पर एक नजर डालें।

जार्ज ग्रिर्यसन द्वारा किया गया कालविभाजन

(क) चारण काल (700 ई. से 1300 ई. तक) (ख) पंद्रहवीं शती का धार्मिक पुनर्जागरण (ग) जायसी की प्रेम कविता (घ) कृष्ण संप्रदाय (ङ) मुगल दरबार (च) तुलसीदास (छ) प्रेमकाव्य (ज) तुलसीदास के अन्य परवर्ती (झ) अठारहवीं शताब्दी (ञ) कंपनी के शासन में हिंदुस्तान (ट) विक्टोरिया के शासन में हिन्दुस्तान।

जार्ज ग्रियर्सन के कालविभाजन में व्यवस्था का अभाव दिखाई पड़ता है। सबसे पहली बात तो यह है कि इसमें साहित्यिक प्रवृत्ति को आधार नहीं बनाया गया है। मुगल दरबार, अठारहवीं शताब्दी, कंपनी के शासन में हिंदुस्तान आदि के आधार पर किया गया विभाजन किसी साहित्यिक परिवर्तन का संकेत नहीं देते।

निश्चय ही, हिंदी साहित्य के कालविभाजन के प्रथम प्रयास के रूप में इसका अपना महत्व है, पर इस कालविभाजन को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

मिश्रबंधुओं द्वारा किया गया कालविभाजन

1. आरंभिक काल	क.	पूर्व आरम्भिक काल-सं. 700 से 1343 (643 ई. से 1286 ई.)
	ख.	उत्तर आरम्भिक काल-सं. 1344 से 1444 (1287 ई. से 1387 ई.)
2. माध्यमिक काल	क.	पूर्व माध्यमिक काल-सं. 1445 से 1560 (1388 ई. से 1503 ई.)

		ख.	प्रौढ़ माध्यमिक काल-सं. 1561 से 1680 (1504 ई. 1623 ई.)
3.	अलंकृत काल	क.	पूर्व अलंकृत काल-सं. 1681 से 1790 (1624 से 1733 ई.)
		ख.	उत्तर अलंकृतकाल-सं. 1791 से 1889 (1734 ई. से 1832 ई.)
4.	परिवर्तन काल	क.	सं. 1890 से 1925 (1833 ई. से 1868 ई.)
5.	वर्तमान काल	क.	सं. 1926 से आगे (1869 ई. से आगे)

मिश्रबंधुओं ने 'मिश्रबंधु विनोद' में कालविभाजन को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया है। मिश्रबंधुओं ने व्यवस्था के नाम पर हिंदी के कालखंडों को उप-कालखंडों में विभक्त किया है। इससे स्पष्टता आने के बजाय एक भ्रम पैदा हो गया है। सभी कालों को उन्होंने दो उपखंडों में विभक्त किया, जिसका कोई ठोस आधार दिखाई नहीं पड़ता। माध्यमिक काल को दो हिस्सों में बाँटने की कोई जरूरत नहीं है, क्योंकि इस काल में एक ही साहित्यिक प्रवृत्ति (भक्ति भावना) की प्रधानता रही। यही बात अलंकृत काल के लिए भी कही जा सकती है।

इस विभाजन को भी विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा किया गया कालविभाजन

1.	वीरगाथा काल	सं. 1050 से 1375 (993 ई. से 1318 ई.)
2.	भक्तिकाल	सं. 1375 से 1700 (1318 से 1643 ई.)
3.	रीतिकाल	सं. 1700 से 1900 (1643 ई. से 1843 ई.)
4.	आधुनिक काल	सं. 1900 से 1984 (1843 ई. से 1927 ई.)

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा किया गया कालविभाजन

1.	आदिकाल	सन् 1000 ई. से 1400 ई.
2.	पूर्व मध्यकाल	सन् 1400 ई. से 1700 ई.
3.	उत्तर मध्यकाल	सन् 1700 ई. से 1900 ई.
4.	आधुनिक काल	सन् 1900 से आगे

परवर्ती इतिहासकारों द्वारा किया गया कालविभाजन

1.	आदिकाल	1000 ई. से 1400 ई.
2.	मध्यकाल	1400 ई. से 1900 ई.
3.	आधुनिक काल	1900 ई. से आगे

कालविभाजन के इन सभी प्रयत्नों में आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत सर्वाधिक मान्य है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने प्रवृत्तियों को आधार बनाकर कालों का सुव्यवस्थित विभाजन किया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने रामचंद्र शुक्ल के विभाजन को ही स्वीकार किया है पर संवत् के स्थान पर ईसवी सन् का प्रयोग कर उन्होंने काल विभाजन को और व्यवस्थित कर दिया है। इसके अतिरिक्त द्विवेदी जी ने पूरी शताब्दी को हिंदी साहित्य के कालविभाजन का आधार बनाया है।

डॉ. धीरेंद्र वर्मा तथा अन्य सहयोगियों द्वारा संपादित भारतीय हिंदी परिषद के इतिहास में केवल तीन युगों की चर्चा की गई है-आदिकाल, मध्यकाल और आधुनिक काल। डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त ने भी लगभग इसी विभाजन को स्वीकार किया है। संतकाव्य, प्रेमाख्यानक काव्य, रामकाव्य, कृष्णकाव्य, वीरकाव्य, रीतिकाव्य की धाराएँ पूरे मध्यकाल में प्रवाहित होती रहीं। पर सत्रहवीं शताब्दी के आते-आते मुख्य प्रवृत्ति बदल गई थी। भक्ति के स्थान पर अलंकरण और श्रृंगार विलास की प्रधानता हो गई। काव्य लिखने का ढंग बदल गया था। इससे काव्य की चेतना और काव्य के रूप में भी स्पष्ट अंतर आ गया। अतः मध्यकाल को प्रवृत्तियों के आधार पर दो कालों में विभाजित करना जरूरी हो गया।

आधुनिक काल का आरंभ उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से माना जाता है। 1857 की क्रांति भारतीय इतिहास की एक बड़ी घटना है। वस्तुतः यह क्रांति मध्ययुग की समाप्ति और आधुनिक युग के आरंभ का उद्घोष है। पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान से भारतीय जनता का संपर्क और संघर्ष हुआ, फलतः आधुनिक युग का जन्म हुआ। नई तकनीकों के आगमन के कारण गद्य साहित्य का तेजी से विकास हुआ। राष्ट्रीय आंदोलन अपने नए तेवर के साथ सामने आया। इससे हिंदी साहित्य प्रभावित हुआ। 1900 से 1920 ई. तक के साहित्य में राष्ट्रीयता का स्वर उभर कर सामने आया, 1920 से 1936 ई. तक गांधी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर का प्रभाव साहित्य पर पड़ा। एक आदर्शवाद और रोमानियत का प्रस्फुटन काव्य के माध्यम से हुआ, जिसे छायावाद के नाम से जाना जाता है। 1936 ई. में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के बाद प्रगतिवाद का जोर साहित्य में बढ़ा। इसमें कवियों का समाजवादी रुझान सामने आया। इसके बाद 'तारसप्तक' का प्रकाशन (सन् 1943 ई.) हिंदी साहित्य में एक नए मोड़ के रूप में आया, जिसे प्रयोगवाद के नाम से भी जाना जाता है। इसके बाद साहित्यकाल कई बार युग परिवर्तन की घोषणा कर चुका है, पर उस विस्तार में जाना हमारा उद्देश्य नहीं है।

हिंदी साहित्य के कालविभाजन को नीचे एक तालिका के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

कालविभाजन

आदिकाल	पूर्वमध्यकाल	उत्तरमध्यकाल	आधुनिककाल
(10वीं श. से 14वीं श.)	(14वीं श. से 17वीं श.)	(17वीं श. से 19वीं श.)	(19वीं श. से अब तक)

यही कालविभाजन हिंदी साहित्य के इतिहासकारों के बीच मान्य है।

1.5 नामकरण संबंधी विवाद

कालविभाजन के समान कालों के प्रथम नामकरण का श्रेय भी ग्रियर्सन को है। इसके बाद मिश्रबंधुओं ने कालों का नामकरण किया, तत्पश्चात् रामचंद्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी

और अन्य परवर्ती इतिहासकारों ने। हम अलग-अलग कालों के नामकरण पर अलग-अलग विचार करेंगे।

1.5.1 आदिकाल

सबसे पहले 10वीं शताब्दी से 14वीं शताब्दी के कालखंड को लें, जिसमें हिंदी का प्रारंभिक साहित्य लिखा गया। विभिन्न विद्वानों ने इसका नामकरण इस प्रकार किया है-

इतिहासकार	नामकरण
1. ग्रियर्सन	चारणकाल
2. मिश्रबंधु	प्रारंभिक काल
3. रामचंद्र शुक्ल	वीरगाथा काल
4. राहुल सांकृत्यायन	सिद्ध सामंत युग
5. महावीर प्रसाद द्विवेदी	बीजवपन काल
6. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	वीर काल
7. हजारीप्रसाद द्विवेदी	आदिकाल
8. रामकुमार वर्मा	संधिकाल एवं चारणकाल

हिंदी साहित्येतिहास के विभिन्न कालों का नामकरण करने का प्रथम श्रेय ग्रियर्सन को जाता है। उन्होंने हिंदी साहित्येतिहास के आरंभिक काल का 'चारण काल' के रूप में नामकरण किया; पर इस नाम के पक्ष में वे कोई ठोस तर्क नहीं उपस्थित कर पाए। वे हिंदी साहित्य के इतिहास की शुरूआत 643 ई. से करते हैं, पर उस समय किसी चारण रचना या चारण प्रवृत्ति का उल्लेख वे नहीं कर सके हैं। वस्तुतः इस प्रकार की रचनाएँ 1000 ई. तक मिलती ही नहीं हैं। अतः ग्रियर्सन द्वारा किया गया नामकरण अनुपयुक्त प्रतीत होता है। ग्रियर्सन के बाद मिश्रबंधुओं ने 643 ई. से 1387 ई. तक के काल को आरंभिक काल कहा। यह एक सामान्य संज्ञा है और इसमें किसी प्रवृत्ति को आधार नहीं बनाया गया है।

मिश्रबंधुओं के बाद आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी साहित्येतिहास के इस काल खंड का नाम वीरगाथा काल रखा। वीरगाथा काल नामकरण का आधार स्पष्ट करते हुए शुक्ल जी लिखते हैं:

''...... आदिकाल की इस दीर्घ परम्परा के बीच प्रथम डेढ़ सौ वर्ष के भीतर तो रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति का निश्चय नहीं होता है-धर्म, नीति, शृंगार, वीर सब प्रकार की रचनाएँ दोहों में मिलती है। इस अनिर्दिष्ट लोक प्रवृत्ति के उपरान्त जब से मुसलमानों की चढ़ाइयों का आरम्भ होता है तब से हम हिंदी साहित्य की प्रवृत्ति एक विशेष रूप में बँधती हुई पाते हैं। राजाश्रित कवि अपने आश्रयदाता राजाओं के पराक्रमपूर्ण चरितों या गाथाओं का वर्णन करते थे। यही प्रबंध परम्परा रासो के नाम से पाई जाती है, जिसे लक्ष्य करके इस काल को हमने वीरगाथा काल कहा है।''

आचार्य शुक्ल ने जिन बारह पुस्तकों के आधार पर आदिकाल का विवेचन तथा नामकरण किया, वे इस प्रकार हैं :

1.	विजयपाल रासो,	2.	हम्मीर रासो,
3.	कीर्तिलता,	4.	कीर्तिपताका,
5.	खुमाण रासो,	6.	बीसलदेव रासो,
7.	पृथ्वीराज रासो,	8.	जयचन्द्र प्रकाश,
9.	जयमयंक जसचंद्रिका,	10.	परमाल रासो,
11.	खुसरो की पहेलियाँ, और	12.	विद्यापति पदावली।

वे लिखते हैं कि "इन्हीं बारह पुस्तकों की दृष्टि से आदिकाल का लक्षण निरूपण और नामकरण हो सकता है। इनमें से अंतिम दो तथा बीसलदेव रासो को छोड़कर शेष सब ग्रंथ वीरगाथात्मक हैं। अतः आदिकाल का नाम वीरगाथा काल ही रखा जा सकता है।"

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जिन बारह पुस्तकों के आधार पर इस काल की प्रवृत्तियों का विवेचन और नामकरण किया है उनमें कई बाद की रचनाएँ हैं और कई नोटिस मात्र हैं और कई पुस्तकों के बारे में यह कहना मुश्किल है कि उनका मूलरूप क्या था। मसलन नए शोधों के आधार पर 'खुमाण रासो और 'बीसलदेव रासो' को 16वीं शताब्दी में रचित माना गया है। 'हम्मीर रासो' को नोटिस मात्र समझा जा सकता है; अर्थात् यह ग्रंथ प्राप्त नहीं हुआ, इसकी सूचना दूसरे ग्रंथों में मिलती है। इसी प्रकार प्रसिद्ध महाकाव्य पृथ्वीराज रासो को अर्धप्रमाणिक रचना मान लिया गया है। अतः केवल इन पुस्तकों के आधार पर वीरगाथा काल नाम दे देना उचित प्रतीत नहीं होता। इसके अतिरिक्त इस काल में वीरकाव्य ही नहीं लिखे गए, बल्कि धार्मिक, श्रृंगारिक और फुटकर लौकिक साहित्य की रचना भी हुई। 'वीरगाथा काल' नामकरण के कारण इन प्रवृत्तियों की उपेक्षा हो जाती है।

राहुल सांकृत्यायन ने विवेच्य काल को 'सिद्ध सामंत काल' कहा है। यह नाम केवल दो वर्गों की ओर संकेत करता हैः सिद्ध और सामंत। सिद्ध जहाँ रचनाकार थे वहीं सामंत रचना प्रेरक। राहुल जी ने जो यह संयोग बनाया है, वह भी तर्कसंगत नहीं है। इसके अतिरिक्त यह कई प्रवृत्तियों को नजर अंदाज कर देता है। नाथपंथी और हठयोगी कवियों तथा खुसरो आदि की काव्य प्रवृत्तियों का इस नाम में समावेश नहीं होता। इसलिए यह नाम भी मान्य नहीं है।

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा दिया गया नाम 'वीरकाल', शुक्ल जी के नामकरण का रूपांतर है। इसमें कोई मौलिकता नहीं है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक के काल खंड को 'आदिकाल' कहना पसंद करते हैं। उन्होंने आदिकाल के अंतर्गत धार्मिक रचनाओं का भी समावेश किया है। उनका तर्क है कि यदि इस काल की धार्मिक रचनाओं को साहित्य का अंग न माना गया तो भक्तिकाल की संपूर्ण संपदा से हमें हाथ धोना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त इस समय और भी कई प्रवृत्तियों का जन्म और विकास हो रहा था, जैसे श्रृंगार काव्य, लौकिक काव्य आदि। वीरगाथात्मक काव्य से अलग काव्य प्रवृत्तियाँ भी जनता की चित्तवृत्ति का ही प्रतीक हैं, अतः आदिकाल का नामकरण करते समय उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

डॉ. रामकुमार वर्मा ने आदिकाल को दो खंडों में विभाजित कर दिया है-'संधिकाल' और 'चारणकाल'। 'संधिकाल' भाषा की ओर संकेत करता है और 'चारणकाल' से एक वर्ग विशेष का बोध होता है। इस नामकरण की कमजोरी यह है कि इसमें किसी प्रवृत्ति को आधार नहीं बनाया गया है। अतः यह नामकरण भी विद्वानों के बीच मान्य नहीं है। वस्तुतः

'आदिकाल' ही ऐसा नाम है, जिस पर इतिहासकार किसी न किसी रूप में सहमत हैं। इस नाम से उस व्यापक पृष्ठभूमि का बोध होता है, जिस पर आगे आने वाले साहित्य का विशाल स्वरूप आधारित है। भाषा की दृष्टि से हम इस काल में हिंदी के आदिरूप की झलक पाते हैं, इसके अतिरिक्त हिंदी साहित्य की सभी प्रमुख प्रवृत्तियों के आदिम बीज की खोज इस काल में की जा सकती है। परवर्ती साहित्य की विभिन्न शैलियों और काव्य रूपों का आदि रूप भी इस काल के साहित्य में प्राप्त हो जाता है। इस काल की आध्यात्मिक, श्रृंगारिक तथा वीरता आदि प्रवृत्तियों का विकास परवर्ती साहित्य में हुआ। अतः आदिकाल सर्वाधिक उपयुक्त और व्यापक नाम है।

1.5.2 भक्तिकाल

चौदहवीं शती के मध्य से सत्रहवीं शती के मध्य तक के कालखंड को हिंदी साहित्य के इतिहास में 'भक्तिकाल' के नाम से जाना जाता है। हिंदी साहित्य के इस कालखंड के नामकरण का श्रेय आचार्य रामचंद्र शुक्ल को है। कुछ विद्वान इस कालखंड को 'पूर्व मध्यकाल' कहने के पक्ष में भी हैं। हिंदी साहित्येतिहास लेखन में ये दोनों नाम एक साथ चलते हैं, पर 'भक्तिकाल' नाम अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। यह उस प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है; जो इस काल में सर्वाधिक प्रबल थी। 'पूर्व मध्यकाल' कहने से यह पता नहीं चलता है कि उस कालविशेष में किस प्रकार का साहित्य लिखा जा रहा था, उस युग की साहित्यिक प्रवृत्ति क्या थी? अगर आदिकाल के समान इस काल में भी कोई प्रवृत्ति प्रमुख न होती, तो 'पूर्व मध्यकाल' नाम से काम चलाया जा सकता था। पर इस काल की प्रमुख प्रवृत्ति 'भक्ति' बिलकुल स्पष्ट है।

1.5.3 रीतिकाल

हिंदी साहित्य के उत्तर मध्यकाल का समय लगभग सन् 1643 ई. से सन् 1843 ई. तक फैला हुआ है। इस काल के नामकरण पर भी विद्वानों के बीच मतभेद है। मिश्रबंधुओं ने इसे 'अलंकृत काल' कहा है, रामचंद्र शुक्ल ने 'रीतिकाल', रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने 'कला काल' और विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'श्रृंगार काल' की संज्ञा दी है।

डॉ. ग्रियर्सन ने सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी की रचनाओं को 'दि आर्स पोयटिका' की संज्ञा दी है। लैटिन भाषा में इस शब्द का अर्थ 'काव्य कला' होता है। ग्रियर्सन ने हिंदी रीति परम्परा की समस्त रचनाओं में व्याप्त जिस विशिष्ट कलात्मक प्रवृत्ति की ओर संकेत किया है, उससे लगता है कि उन्होंने इस युग की श्रृंगारिक एवं काव्य कला से संपृक्त रचनाओं के आधार पर ही इसे 'काव्य-कला युग' कहना सही समझा होगा; पर काव्य कला के युग के नामकरण का स्पष्ट विश्लेषण उन्होंने कहीं नहीं किया।

मिश्रबंधुओं ने विवेच्य काल को 'अलंकृत काल' कहा है। पर 'अलंकृत काल' नाम को स्वीकार कर लेने से इस युग की मुख्य प्रवृत्ति श्रृंगार और शास्त्रीयता की पूर्ण उपेक्षा हो जाती है। इसके अतिरिक्त कवियों की प्रवृत्ति केवल अलंकारयुक्त रचनाएँ करने की नहीं थी, उन्होंने इसकी अपेक्षा रस पर अधिक बल दिया है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र कहते हैं कि मिश्रबंधुओं ने यहाँ 'अलंकार' शब्द का प्रयोग काव्य निरूपण प्रवृत्ति के लिए किया है। पर मिश्रबंधुओं ने 'अलंकृत' शब्द का प्रयोग काव्य के लिए किया है न कि रीति के लिए और दूसरी बात यह है कि इस काल तक आते-आते अलंकार एक काव्यांग विशेष के लिए रूढ़ हो चुका था।

हम पहले बता चुके हैं कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस काल को 'रीतिकाल' कहा है। इस नाम को सभी विद्वानों ने लगभग एकमत से स्वीकार किया है। रामचंद्र शुक्ल की 'रीति'

वामन की 'रीति' से भिन्न है। वामन ने जहाँ इसे 'विशिष्ट पद रचना शैली' कहा, आचार्य शुक्ल ने इसका प्रयोग तत्कालीन लिखित लक्षण ग्रंथों के लिए किया। आचार्य शुक्ल ने वामन की 'रीति' के कुछ अंशों को ग्रहण करते हुए भी रीति को केवल एक प्रकार न मानकर एक दृष्टिकोण माना। इसलिए उनके अनुसार जिसने लक्षण ग्रंथों की रचना की हो, वही रीति कवि नहीं है, बल्कि जिस कवि का दृष्टिकोण रीतिबद्ध हो उसे भी रीति काव्य के अंतर्गत रखा जा सकता है। इस काल में लक्षण ग्रंथ लिखने की होड़ सी मच गयी थी। सभी कवियों ने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से इसी ढर्रे पर रचना की है। इस युग की प्रवृत्तियों का अध्ययन आप इस पाठ्यक्रम के खंड–3 में विस्तार से करेंगे। अतः आचार्य शुक्ल को 'रीतिकाल' नामकरण करने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं हुई।

डॉ. रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने रीतिकाल को 'कला काल' का नाम दिया। रसाल जी द्वारा दिए गए इस नाम से स्पष्ट है कि वे ग्रियर्सन और मिश्रबंधुओं द्वारा दिए गए नामों की सीमा से आगे नहीं बढ़ सके। वस्तुतः 'कला काल' से रीतिकाल के काव्य के बहिरंग पक्ष का ही स्वरूप स्थिर हो पाता है और उससे उस युग की व्यापक श्रृंगारिक चेतना की प्रायः अवमानना हो जाती है।

पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इस काल को 'श्रृंगार काल' कहना अधिक उपयुक्त समझा। उनके विचार से 'रीति' शब्द काव्य के बहिरंग का बोधक है; रीतिकाव्य की आत्मा श्रृंगार है, जिसका प्रवाह 17वीं शताब्दी के मध्य से 19वीं शताब्दी तक होता रहा। रीतिकाल में अन्य प्रवृत्तियाँ भी सामने आईं पर श्रृंगार के समक्ष टिक न सकीं। बोलबाला श्रृंगार का ही रहा।

वस्तुतः हिंदी साहित्य के उत्तर मध्यकाल में रीतिग्रंथों का ही सृजन किया गया। इस काल की रचनाओं में यदि श्रृंगारिक छंदों का समावेश हुआ, तो उसका मुख्य कारण इसकी श्रृंगारिक प्रवृत्ति के स्थान पर विलासी आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के अतिरिक्त शास्त्र के इस रूढ़ विषय को सरस बनाने का प्रयत्न ही मानना चाहिए। यदि कवि श्रृंगार वर्णन को ही उद्देश्य समझते, तो लक्षण के बंधनों में अपनी रचनाओं को उलझाकर कहीं-कहीं दूषित अथवा कवित्वहीन न कर बैठते।

विवेच्य काल के लिए दो ही नाम उपयुक्त प्रतीत होते हैं। प्रवृत्ति की दृष्टि से 'रीतिकाल' और विषय की दृष्टि से 'श्रृंगार काल'। आचार्य शुक्ल ने भी 'श्रृंगार काल' नामकरण के संदर्भ में विशेष आपत्ति नहीं उठाई है। पर समग्रता की दृष्टि से 'रीतिकाल', 'श्रृंगारकाल' की अपेक्षा अधिक सटीक लगता है और विद्वानों के बीच यह मान्य भी हुआ है।

1.5.4 आधुनिक काल

हिंदी साहित्येतिहास का अंतिम कालखंड आधुनिक काल के नाम से जाना जाता है। आधुनिक शब्द दो अर्थों को अपने में लपेटे हुए है। एक है मध्यकाल से भिन्नता और दूसरा है इहलौकिक दृष्टिकोण। मध्यकाल अपने अवरोध, जड़ता और रूढ़िवादिता के कारण स्थिर और रूढ़ हो चुका था। 1857 ई. का विद्रोह मध्ययुग की जड़ता की समाप्ति और आधुनिक युग के आरंभ का उद्घोष था। इस समय देश के प्रबुद्ध वर्ग ने नए सिरे से सोचना आरंभ किया। इसी प्रकार रीतिकाल में साहित्य अपने कथ्य और शैली की दृष्टि से रूढ़ हो चुका था। आधुनिक काल ने इस जड़ता को खंडित किया और जीवन की धारा विविध स्रोतों में फूट निकली। साहित्य मनुष्य के सुख-दुख के साथ जुड़ गया।

आधुनिक युग में सोचने विचारने का दृष्टिकोण सांसारिक हो गया और धर्म, दर्शन, साहित्य, चित्र आदि के प्रति नया दृष्टिकोण सामने आया। इस काल में सुधार, परिष्कार और अतीत की व्याख्या नए ढंग से की गई। इस ऐतिहासिक प्रक्रिया में साहित्य की भाषा भी बदली और ब्रजभाषा का स्थान खड़ी बोली ने ले लिया।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने आधुनिक काल को गद्य और काव्य के दो खंडों में बाँट दिया। दोनों खंडों को पुनः दो प्रकरणों में बाँटा गया। गद्य के पहले प्रकरण में ब्रजभाषा और खड़ी बोली गद्य का विवेचन किया गया है और दूसरे खंड में गद्य साहित्य का उद्भव निरूपित किया गया है। इसे फिर तीन उत्थानों प्रथम, द्वितीय और तृतीय में विभाजित किया गया है। काव्य खंड में भी दो प्रकरण हैं - पुरानी और नई काव्यधारा। गद्यखंड की तरह इसमें भी नई काव्यधारा के तीन उत्थान हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस कालखंड को 'गद्यकाल' कहा है। यह सही है कि आधुनिक तकनीकों के कारण इस युग में गद्य साहित्य तेजी से विकसित हुआ और खासकर प्रेस ने साहित्य को प्रजातांत्रिक रूप दिया। समाचार पत्र, उपन्यास, आधुनिक ढंग के निबंध, कहानियाँ, प्रेस के प्रचार के बाद ही तेजी से आगे बढ़ीं। पर इस युग का नाम अगर 'गद्य काल' रख दिया जाए, तो वह काव्य प्रवृत्ति बिल्कुल छूट जाएगी, जो आधुनिक विचारों से ओत-प्रोत है। इसलिए हमें इस काल का आधुनिक काल नाम ही अधिक उचित प्रतीत होता है। आधुनिक काल को भी कई कालखंडों में विभाजित किया जा सकता है, जैसे-

1.	पुनर्जागरण काल (भारतेंदु काल)	1857-1900 ई.
2.	जागरण सुधार काल (द्विवेदी काल)	1900-1918 ई.
3.	छायावाद काल	1918-1936 ई.
4.	छायावादोत्तर काल	
	(क) प्रगति-प्रयोग काल	1936-1950 ई.
	(ख) नवलेखन काल	1950 ई. से अब तक

पुनर्जागरण काल/भारतेंदु काल

1857 से 1900 तक के काल को पुनर्जागरण काल या भारतेंदु काल के नाम से जाना जाता है। दोनों ही नाम हिंदी साहित्य के इतिहास में प्रयुक्त होते हैं। यह काल राष्ट्रीय-सांस्कृतिक पुनर्जागरण का समय है। राजा राममोहन राय, केशव चंद्र सेन, दयानंद सरस्वती, विवेकानंद आदि के कारण एक नवीन राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का जन्म हुआ। इसका सीधा प्रभाव साहित्य पर पड़ा। साहित्य नए दृष्टिकोण से संपृक्त हुआ और मध्यकालीन जड़ता को उसने पूरी तरह तोड़ दिया। इस दृष्टि से इस काल खंड को पुनर्जागरण काल कहा जाता है।

आप जानते हैं कि नामकरण करते समय ऐसे व्यक्ति को भी आधार बनाया जा सकता है, जिससे उस कालखंड का इतिहास प्रभावित हुआ हो। इस कालखंड में भारतेंदु हरिश्चंद्र पूरे हिंदी साहित्य पर छाए रहे। उन्होंने हिंदी गद्य को भाषा और विधा की दृष्टि से एक नवीन दिशा दी। मध्ययुगीन वातावरण से जीवन और साहित्य को निकालकर उन्हें आधुनिक रूप प्रदान करने की उन्होंने सतत चेष्टा की। भाषा, भाव, साहित्यिक रूप आदि की दृष्टि से उन्होंने गद्य और काव्य क्षेत्रों में हिंदी भाषियों का नेतृत्व किया। उनके व्यक्तित्व का प्रतिबिंब अन्य कवियों और लेखकों की रचनाओं में बराबर मिलता है। अतः इस काल का नामकरण 'भारतेंदु काल' उपयुक्त है।

जागरण सुधार काल/द्विवेदी काल (1900-1918)

हिंदी कविता को राष्ट्रीयता, प्रगति और स्वच्छंदता से जोड़ने का प्रमुख कार्य इस काल में हुआ। इस युग का नामकरण महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाम पर 'द्विवेदी युग' किया गया है। 1903 ई. में 'सरस्वती' का संपादकत्व ग्रहण करने के बाद उन्होंने खड़ी बोली का परिष्कार आरंभ किया। उन्होंने अनेक कवियों और लेखकों का मार्ग निर्देशन किया। समकालीन कवियों और लेखकों पर उनकी अमिट छाप पड़ी। खुद द्विवेदी जी एक कुशल लेखक, समालोचक और सफल संपादक थे। जिस प्रकार भारतेंदु हरिश्चंद्र ने हिंदी भाषा और साहित्य को एक दिशा दिखाई, उसी प्रकार महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिंदी भाषा का परिष्कार कर उसे एक मानक रूप दिया। इन्हीं कारणों से इस काल को 'द्विवेदी युग' कहा जाता है।

राष्ट्रीय, सांस्कृतिक और साहित्यिक आधार पर इस काल को जागरण सुधार काल भी कहा जाता है। इस काल में साहित्य के कथ्य और भाषा में सुधार और परिष्कार हुआ। इसके अतिरिक्त इस काल में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक स्तर पर भी जागरण सुधार की दिशा में प्रगति हुई। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में समाज और संस्कृति के पुनरुत्थान की जो प्रक्रिया आरंभ हुई थी, उसे इस काल में बाल गंगाधर तिलक, गोपाल कृष्ण गोखले, लाला लाजपतराय आदि नेताओं ने आगे बढ़ाया और अपनी परंपरा और संस्कृति को गौरव प्रदान करने की चेष्टा की। इसका भी असर साहित्य पर पड़ा। इस दृष्टि से इस काल को 'जागरण सुधार काल' कहा जाता है।

छायावाद काल (1918-1936)

द्विवेदी युग के बाद का समय छायावाद काल के नाम से जाना जाता है। छायावाद आधुनिक हिंदी कविता की उस धारा का नाम है, जो 1918 ई. के बाद प्रस्फुटित हुई। नामवर सिंह के अनुसार "छायावाद विशेष रूप से हिंदी साहित्य के 'रोमांटिक' उत्थान की वह काव्यधारा है जो लगभग ई. सन् 1918 से 1936 (उच्छ्वास से युगान्त) तक की प्रमुख युगवाणी रही। इसमें जयशंकर प्रसाद, निराला, सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा आदि मुख्य कवि हुए। यह सामान्य रूप से भावोच्छ्वास-प्रेरित स्वच्छन्द कल्पना-वैभव की वह 'स्वच्छंद' प्रवृत्ति है जो देश-काल-गत-वैशिष्ट्य के साथ संसार की सभी जातियों के विभिन्न उत्थानशील युगों की आशा-आकांक्षा में निरंतर व्यक्त होती रही है। स्वच्छंदता की उस सामान्य भाव-धारा की विशेष अभिव्यक्ति का नाम हिंदी साहित्य में छायावाद पड़ा।"

छायावाद का नामकरण कैसे हुआ, इस संबंध में विद्वान एकमत नहीं हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल का विचार था कि "बंगला में आध्यात्मिक प्रतीकवादी रचनाओं को छायावाद कहा जाता था, जिसके अनुकरण से हिंदी में यह नाम चल पड़ा।" लेकिन हजारीप्रसाद द्विवेदी का मानना है कि बंगला में "छायावाद' नाम कभी प्रचलित नहीं था। सन् 1920 में जबलपुर से प्रकाशित 'श्री शारदा' नामक पत्रिका के जुलाई, सितंबर, अक्टूबर, और नवंबर, 1920 के अंकों में 'हिंदी में छायावाद' शीर्षक से पं. मुकुटधर पांडेय के चार लेख प्रकाशित हुए। इससे यह स्पष्ट है कि 1920 से पूर्व 'छायावाद' का नाम चल पड़ा था। इन लेखों से यह स्पष्ट है कि पांडेय जी ने छायावादी काव्य की अस्पष्टता (छाया) के लिए 'छायावाद' नाम का प्रयोग किया था; यह नाम आगे चलकर सबने अपना लिया।"

प्रगति-प्रयोग काल (1936-1953)

छायावाद युग के बाद 1936 के आसपास नवीन सामाजिक चेतना से युक्त जिस साहित्यधारा का जन्म हुआ उसे प्रगतिवाद की संज्ञा दी गई। प्रगतिशील साहित्य प्रोग्रेसिव

लिटरेचर का हिंदी अनुवाद है। अंग्रेजी साहित्य में इस शब्द का प्रचार 1935 ई. के आसपास हुआ, जब ई.एम.फॉर्स्टर के नेतृत्व में पेरिस में 'प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन ' की स्थापना हुई। 1936 ई. में भारत में इसी तर्ज पर डॉ. मुल्कराज आनन्द और सज्जाद जहीर के उद्योग से 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना हुई। इसके प्रथम अधिवेशन में प्रगतिशील साहित्य पर विचार-विमर्श हुआ। कालक्रम से यही प्रगतिवाद हो गया।

प्रयोगवाद का समय तारसप्तक कविता संग्रह के प्रकाशन काल सन् (सन् 1943) से माना जाता है। 'प्रयोगवाद' नाम चलने का कारण 'तारसप्तक' का संपादकीय है, जिसमें 'प्रयोग' और 'प्रयोगशीलता' की बार-बार चर्चा की गई है। प्रयोग-प्रयोग की इसी रट के कारण इस संग्रह की कविताओं को 'प्रयोगवाद' कह दिया गया। पर इस नाम से तारसप्तक के संपादक अज्ञेय सहमत नहीं हैं। बल्कि उन्होंने दूसरा सप्तक (1951) की भूमिका में इसका विरोध भी किया है। परंतु जिस प्रकार छायावादियों के न चाहने पर भी, छायावाद की संज्ञा चल पड़ी, उसी प्रकार प्रयोगवाद भी चल पड़ा। अब इससे एक निश्चित काव्य प्रवृत्ति का बोध होता है और प्रचलन से इसमें पर्याप्त अर्थवत्ता आ गई है।

नवलेखन काल (1953 से आगे)

प्रयोगवाद या प्रयोग युग के बाद हिंदी साहित्य में कई प्रवृत्तियाँ उभरीं, यथार्थ के कई पहलू सामने आए। इसके अतिरिक्त यह साहित्य प्रवाह इतनी तेजी से प्रभावित हो रहा है कि यह सवाल बार-बार सामने आता है कि इसे किसी एक नाम में बाँधा जाए या नहीं। स्वतंत्रता के बाद लिखी गई कविताओं को 'नई कविता' कहा गया, जिनमें नए मूल्यों और नए शिल्प विधान का अन्वेषण किया गया।

'नई कविता' नाम पर यह आपत्ति उठायी जाती है कि नयापन किसी साहित्य की विकासशील परंपरा का द्योतक होता है। अतः इस काल की कविता को नयी कविता कहने का क्या औचित्य है? फिर भी नई कविता नाम स्वतंत्रता के बाद लिखी गई उन कविताओं के लिए रूढ़ हो गया जो अपने विषय और शिल्प में प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का विकास होकर भी विशिष्ट हैं। इस नई कविता के अनेक स्रोत फूटे और कई काव्यांदोलन सामने आए, जैसे अकविता, अतिकविता, अस्वीकृत कविता आदि-आदि। इसी प्रकार कहानी में भी नई कहानी का जोर चल पड़ा। साहित्य के नए-नए रूप और आयाम सामने आए। इन सभी प्रवृत्तियों को एक साथ समेटना विवादास्पद हो सकता है, पर सुविधा की दृष्टि से इसे नवलेखन काल कहा जा सकता है।

बोध प्रश्न

4. हिंदी साहित्य का आरंभ कब से माना जाता है?

   (सही उत्तर के सामने (✓) का चिह्न लगाएँ)

   क) सातवीं शताब्दी ( )

   ख) आठवीं शताब्दी ( )

   ग) दसवीं शताब्दी ( )

   घ) ग्यारहवीं शताब्दी ( )

5. हिंदी साहित्य का इतिहास लिखने वाले तीन विद्वानों के नाम लिखिए।

   क) ....

   ख) ....

   ग) ....

6. हिंदी साहित्येतिहास के कालविभाजन का प्रयास सर्वप्रथम किसने किया?

   ....

   ....

7. 'आदिकाल' का नामकरण विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग किया है। सही नाम और विद्वान का मिलान करें।

क)	जार्ज ग्रियर्सन	सिद्ध सामंतकाल
ख)	विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	चारणकाल
ग)	हजारीप्रसाद द्विवेदी	वीरगाथा काल
घ)	रामचंद्र शुक्ल	वीर काल
ड.)	राहुल सांकृत्यायन	आदिकाल

8. 'रीतिकाल' के नामकरण से संबंधित विवाद पर विचार कीजिए। (उत्तर पाँच पंक्तियों में दीजिए)

   ....

   ....

   ....

   ....

   ....

अभ्यास

1. हिंदी साहित्य के कालविभाजन पर टिप्पणी लिखिए। (उत्तर पंद्रह पंक्तियों में दीजिए)

2. हिंदी साहित्य के कालों के नामकरण के विभिन्न प्रयासों का उल्लेख कीजिए। (उत्तर पंद्रह पंक्तियों में दीजिए)

1.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने कालविभाजन और नामकरण की समस्या के विभिन्न पहलुओं की जानकारी प्राप्त की है।

इस इकाई को पढ़ने के बाद अब आप बता सकते हैं कि इतिहास के कालविभाजन और नामकरण की आवश्यकता अध्ययन की सुविधा के लिए तो है ही; इतिहास को सही ढंग से समझने के लिए भी यह बेहद जरूरी है।

कालविभाजन और नामकरण करते समय प्रायः साहित्यिक प्रवृत्ति को आधार बनाया जाता है। किसी सामान्य प्रवृत्ति के अभाव की स्थिति में राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और व्यक्तिपरक आधारों को भी अपनाया जा सकता है। इन आधारों को अपनाकर हिंदी साहित्य के इतिहास को मुख्यतः चार कालों में विभक्त किया गया है-आदिकाल, पूर्व मध्यकाल, उत्तर मध्यकाल और आधुनिक काल। इनका नामकरण किया गया-आदिकाल, भक्ति काल, रीतिकाल और आधुनिक काल।

1.7 शब्दावली

चौसर युग : चौसर (1340-1400) अंग्रेजी साहित्य का जन्मदाता माना जाता है। इसके नाम पर अंग्रेजी साहित्येतिहास में चौसर युग की कल्पना की गई है।

जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन : जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन (1851-1941) को हिंदी से अतिशय प्रेम था। उनकी पुस्तक का नाम 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ नार्दर्न हिंदुस्तान' है। हिंदी साहित्य पर काम करने के साथ-साथ ग्रियर्सन ने इसमें भारतीय भाषाओं और बोलियों का उदाहरण भी दिया है।

1.8 उपयोगी पुस्तकें

गणपतिचंद्र गुप्त, हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्यः उद्‌भव और विकास, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली।

नगेन्द्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, काशी नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी।

1.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न

1. क, ख और घ।
2. कालविभाजन और नामकरण का मुख्य आधार काल विशेष की प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्ति होती है।
3. कालविभाजन करते समय इतिहासकार बदलती हुई परिस्थितियों और प्रवृत्तियों को ध्यान में रखता है। उन कालों का नामकरण वह इस प्रकार करना चाहता है कि काल विशेष की मूल साहित्यिक चेतना प्रतिबिम्बित हो सके।
4. ग
5. क) ग्रियर्सन

   ख) रामचंद्र शुक्ल

   ग) हजारीप्रसाद द्विवेदी
6. जार्ज ग्रियर्सन

7. **विद्वान** — **नामकरण**

विद्वान	नामकरण
क) जार्ज ग्रियर्सन	चारणकाल
ख) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	वीरकाल
ग) हजारीप्रसाद द्विवेदी	आदिकाल
घ) रामचंद्र शुक्ल	वीरगाथा काल
ङ) राहुल सांकृत्यायन	सिद्ध सामंतकाल

8. 'उत्तर मध्यकाल' को रीतिकाल कहा जाता है। कुछ विद्वान इसे विषय के आधार पर श्रृंगार काल भी कहते हैं। पर 'रीतिकाल' अधिक मान्य नाम है, क्योंकि इस काल में प्रत्येक विषय का प्रतिपादन एक 'रीति' से अर्थात् एक ढंग से किया जाता था। अतः 'रीतिकाल' नाम ही उपयुक्त है।

अभ्यास

इस उत्तर में निम्नलिखित तथ्य शामिल किए जाने चाहिए।

1.
- हिंदी साहित्य के कालविभाजन के विभिन्न प्रयासों का जिक्र
- कालविभाजन का आधार
- पहला वैज्ञानिक कालविभाजन
- मान्य कालविभाजन

(देखें उपभाग 1.4.1)

2.
- हिंदी के प्रमुख कालों के नामकरण पर अलग से चर्चा।
- हिंदी साहित्य के आरम्भिक काल और उत्तर मध्यकाल के नामकरण पर विवाद।
- सही नामकरण का उल्लेख।

(देखें भाग 1.5)

इकाई 2 हिंदी साहित्य की पृष्ठभूमि

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 अपभ्रंश का उद्भव और विकास

- 2.2.1 अपभ्रंश और देशभाषा
- 2.2.2 अपभ्रंश, अवहट्ठ और पुरानी हिंदी
- 2.2.3 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

2.3 अपभ्रंश साहित्य का अवलोकन

- 2.3.1 स्वयंभू का काव्य
- 2.3.2 पुष्पदंत का काव्य
- 2.3.3 जैन कवियों के चरित काव्य और कथा काव्य
- 2.3.4 जैन कवियों का रहस्यवादी काव्य
- 2.3.5 बौद्ध सिद्ध काव्य
- 2.3.6 वीर और श्रृंगार काव्य

2.4 अपभ्रंश और हिंदी साहित्य का संबंध

- 2.4.1 अपभ्रंश और हिंदी का चरित काव्य
- 2.4.2 अपभ्रंश और हिंदी का भक्ति काव्य
- 2.4.3 अपभ्रंश और हिंदी का श्रृंगार काव्य

2.5 अभिव्यंजना शिल्प

2.6 सारांश

2.7 शब्दावली

2.8 उपयोगी पुस्तकें

2.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.0 उद्देश्य

हिंदी साहित्य के इतिहास के इस पाठ्यक्रम में आपने साहित्य और इतिहास के अंतःसंबंध और कालविभाजन तथा नामकरण की समस्या की जानकारी प्राप्त कर ली है। प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- अपभ्रंश का अर्थ और उसके विकास को समझ सकेंगे;
- हिंदी साहित्य के ठीक पहले लिखे जा रहे अपभ्रंश साहित्य पर प्रकाश डाल सकेंगे; और
- अपभ्रंश साहित्य और हिंदी साहित्य का संबंध स्थापित कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

हिंदी साहित्य का इतिहास पढ़ने से पहले जिस प्रकार साहित्य और इतिहास के अंतःसंबंध, हिंदी साहित्येतिहास लेखक, कालविभाजन और नामकरण की समस्या आदि पर विचार करना जरूरी है, उसी प्रकार यह भी जानना जरूरी है कि हिंदी साहित्य की शुरूआत होने के ठीक पहले किस प्रकार का साहित्य किस प्रकार की भाषा में लिखा जा रहा था।

हिंदी साहित्य और उसके इतिहास का आरंभ 10वीं शताब्दी से माना जाता है। पर हिंदी के कुछ विद्वान, खासकर चंद्रधर शर्मा गुलेरी और राहुल सांकृत्यायन इसका समय और भी पीछे ले जाते हैं और इसका आरंभ सातवीं-आठवीं शताब्दी से मानते हैं। वे अपभ्रंश साहित्य की गणना भी हिंदी साहित्य के अंतर्गत ही करते हैं और अपभ्रंश के कवि स्वयंभू तथा पुष्पदंत को हिंदी का आरंभिक कवि मानते हैं। हिंदी साहित्य का आरंभ और कालविभाजन का संबंध इस बात पर काफी कुछ निर्भर है कि अपभ्रंश साहित्य से हिंदी साहित्य की शुरूआत मानी जाए या नहीं। हमने इस प्रश्न पर कालविभाजन और नामकरण संबंधी इकाई में भी विचार किया है और यह स्थापित तथ्य आपके सामने रखा है कि अपभ्रंश साहित्य का अध्ययन हिंदी साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप में किया जाना चाहिए न कि हिंदी साहित्य के अंग के रूप में।

हिंदी साहित्य और उसके इतिहास के क्रम में अपभ्रंश साहित्य की बार-बार चर्चा होती है। अतः हमने यह जरूरी समझा कि आप अपभ्रंश साहित्य का सामान्य परिचय प्राप्त कर लें। इस इकाई में अपभ्रंश के साहित्य का अवलोकन करने के साथ-साथ हमने यह भी बताने की कोशिश की है कि किस प्रकार और किस हद तक अपभ्रंश साहित्य हिंदी साहित्य से जुड़ा है।

2.2 अपभ्रंश का उद्भव और विकास

अपभ्रंश का अर्थ है - भ्रष्ट, विकृत अथवा अशुद्ध। इस नाम का प्रयोग पहले पहल उस शब्द के लिए होता था, जो भाषा के सामान्य मानदंड से गिरा होता था। आरंभ में संस्कृत के विकृत शब्द रूप के लिए भर्तृहरि, पतंजलि आदि वैयाकरणों ने 'अपभ्रंश' का प्रयोग किया। धीरे-धीरे इस नाम का अर्थ-विस्तार हुआ और यह भाषा विशेष के लिए प्रयुक्त होने लगा। भाषा विशेष के अर्थ में अपभ्रंश शब्द का प्रयोग छठी शताब्दी ईस्वी के आसपास मिलता है। भारतीय आर्यभाषा के विकास में अपभ्रंश प्राकृत के बाद की अवस्था है। इस भाषा में आठवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी के बीच साहित्य का सृजन हुआ।

अपभ्रंश भाषा को समझने के लिए भारतीय आर्यभाषा के विकास को जानना जरूरी है। प्रत्येक युग में एक साहित्यिक भाषा होती है और इसके समानांतर अनेक जन भाषाएँ बोली के रूप में जीवित रहती हैं। वेदों की भाषा छंदस् ने तत्कालीन देशी भाषा से शक्ति अर्जित करके संस्कृत का रूप लिया। इसी प्रकार पालि, प्राकृत और अपभ्रंश अवस्था का जन्म हुआ। इसे आप एक चार्ट द्वारा अच्छी तरह समझ सकते हैंः

छन्दस्		
संस्कृत	}	प्राचीन भारतीय आर्यभाषा (1500 ई.पू.- 500 ई.पू.)
पालि		
प्राकृत		
अपभ्रंश	}	मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा (500 ई.पू.- 1000 ई.)

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ (सिंधी, गुजराती, पंजाबी, ब्रज, अवधी आदि) 1000 ई. से वर्तमान समय तक।

अपभ्रंश, मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा की अंतिम कड़ी और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की जननी है। हिंदी भी उनमें एक है। इसीलिए हिंदी साहित्य को समझने के लिए अपभ्रंश साहित्य को समझना जरूरी है।

2.2.1 अपभ्रंश और देशभाषा

संस्कृत के आचार्यों और अपभ्रंश कवियों ने अपभ्रंश को देशभाषा कहा है। महान अपभ्रंश कवि स्वयंभू और पुष्पदंत ने अपनी भाषा को 'ग्रामीण भाषा' अथवा 'देशी भाषा' कहा है। वस्तुतः प्रत्येक युग में एक साहित्यिक भाषा होती है और अनेक लोक भाषाएँ होती हैं। इन्हीं लोक भाषाओं से साहित्यिक भाषा जीवन का रस प्राप्त करती है और इस प्रकार यह जीवंत बनी रहती है। जब साहित्यिक भाषा जनता से दूर हटती है और केवल पंडितों की भाषा रह जाती है, तब वह भाषा मृत हो जाती है और उसका स्थान कोई लोकभाषा ले लेती है। कालांतर में यही लोकभाषा साहित्यिक भाषा बन जाती है और भाषा के विकास का यह क्रम लगातार चलता रहता है। वैदिक काल में छंदस् साहित्यिक भाषा थी और संस्कृत लोकभाषा। बाद में छंदस् ने लोकभाषा से शक्ति अर्जित की और संस्कृत के रूप में नई साहित्यिक भाषा सामने आई। जब संस्कृत साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित थी, उस समय प्राकृत लोकभाषा के रूप में इसके समानांतर चल रही थी। जब संस्कृत पंडितों की भाषा रह गई और जनता से उसका संपर्क टूट गया, तब प्राकृत ने धीरे-धीरे साहित्यिक भाषा का रूप ले लिया। इसी प्रकार, जब प्राकृत रूढ़ और बद्ध हो गई तब अपभ्रंश साहित्यिक भाषा के रूप में सामने आई। आगे चलकर अपभ्रंश का युग भी समाप्त हुआ और आधुनिक भारतीय भाषाओं में साहित्य की रचना की जाने लगी।

अपभ्रंश को देशभाषा कहा जाए या नहीं, इस पर विद्वानों के बीच काफी मतभेद है। कुछ विद्वान जैसे पिशेल, ग्रियर्सन, सुनीति कुमार चटर्जी आदि अपभ्रंश को 'देशभाषा' मानते हैं, जबकि याकोबी, कीथ, ज्यूल ब्लाख आदि विद्वान अपभ्रंश को देशभाषा नहीं मानते हैं। पर जो लोग यह नहीं मानते कि अपभ्रंश देशभाषा थी, वे भी इतना अवश्य स्वीकार करते हैं कि अपभ्रंश में देशभाषा के अनिवार्य तत्व मौजूद थे।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि साहित्यिक प्राकृत का देशी भाषाओं के साथ सम्पर्क हुआ और इस प्रकार भारतीय आर्यभाषा की अपभ्रंश अवस्था की शुरूआत हुई। इस सिलसिले में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का मत दृष्टव्य हैः ''जब तक भाषा बोलचाल में थी तब तक वह भाषा या देशभाषा ही कहलाती रही, जब वह भी साहित्य की भाषा हो गई तब उसके लिए अपभ्रंश शब्द का व्यवहार होने लगा।''

2.2.2 अपभ्रंश, अवहट्ठ और पुरानी हिंदी

अपभ्रंश को हिंदी साहित्य में शामिल किया जाए या नहीं, इस संबंध में विद्वानों के बीच बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वान जैसे पं. राहुल सांकृत्यायन और चंद्रधर शर्मा गुलेरी अपभ्रंश को हिंदी में शामिल करना चाहते हैं। उनका कहना है कि अपभ्रंश ही पुरानी हिंदी है। हिंदी साहित्य के आरंभ का विवाद इसी प्रश्न से संबद्ध है। इसलिए इस भाग में हम अपभ्रंश, अवहट्ठ और पुरानी हिंदी का अंतर स्पष्ट कर रहे हैं।

आप इतना तो समझ गए होंगे कि अपभ्रंश पर प्राकृत का प्रभाव काफी स्पष्ट था, उसी प्रकार जैसे संस्कृत पर छंदस् का प्रभाव। इसी कारण आचार्य रामचंद्र शुक्ल अपभ्रंश को 'प्राकृताभास हिंदी' कहते हैं, 'पुरानी हिंदी' नहीं। 'पुरानी हिंदी' के रूप में वे सिद्धों के उस भाषा रूप को स्वीकार करते हैं, जिसमें देशभाषा का पुट था। वे देशभाषा मिश्रित अपभ्रंश को 'पुरानी हिंदी' कहते हैं। चंद्रधर शर्मा गुलेरी भी इस मत का समर्थन करते हुए लिखते हैं: ''विक्रम की सातवीं शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और फिर वह पुरानी हिंदी में परिणत हो गई। इसमें देशी की प्रधानता है।'' इसी प्रकार आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी देशी भाषा मिश्रित अपभ्रंश को 'पुरानी हिंदी' कहा है। इस काल में (10वीं शताब्दी के आसपास) लोकभाषा में तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ा। इस काल के गद्य साहित्य इस बात के प्रमाण हैं, जिनमें तत्सम शब्दों का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में हुआ है। वस्तुतः 'पुरानी हिंदी' 'अपभ्रंश' का ही आगे बढ़ा हुआ रूप है, जिसमें तत्सम शब्दों के प्रयोग की बहुलता रही। नवीं-दसवीं शताब्दी तक उस अपभ्रंश भाषा की प्रधानता रही, जिस पर प्राकृत शब्दों का स्पष्ट प्रभाव था, इसे अपभ्रंश कहा गया। नवीं-दसवीं शताब्दी के बाद प्राकृत शब्दों से मुक्त होने की प्रवृत्ति बढ़ी और तत्सम शब्दों को ग्रहण किया जाने लगा। यही 'पुरानी हिंदी' है।

अब सवाल है कि 'अवहट्ठ' क्या है? प्राकृत और अपभ्रंश ग्रंथों में अपभ्रंश के कई नाम मिलते हैं, जैसे अवहट्ठ, अवहठ, अवहट, अवहंस, अवहत्थ आदि। इस अर्थ में 'अवहट्ठ' 'अपभ्रंश' का पर्याय है। पर ऐसी बात है नहीं। विद्यापति ने अपनी रचना 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' को 'अवहट्ठ' कहा हैः

'देसिल बअना सब जन मिट्ठा। तें तैंसन,'जंपओ अवहट्ठा।'

अर्थात देशीभाषा (बोलचाल की भाषा) सबको मीठी लगती है। अतः मैं वैसे ही 'अवहट्ठ' में अपनी कविता कहता हूँ। स्पष्ट है कि विद्यापति ने देशीभाषा मिश्रित परवर्ती अपभ्रंश को 'अवहट्ठ' कहा है, जिसे 'परवर्ती अपभ्रंश' या 'पुरानी हिंदी' कहा जाता है। एक बात ध्यान देने की है कि परवर्ती अपभ्रंश के लेखकों जैसे अद्दहमाण, ज्योतिरीश्वर आदि ने 'अवहट्ठ' का प्रयोग किया। लगता है कि इन कवियों ने इस शब्द का प्रयोग जान-बूझकर और पूर्ववर्ती अपभ्रंश की तुलना में थोड़ी परिवर्तित भाषा के लिए किया है। अतः 'अवहट्ठ' और 'पुरानी हिंदी' मे कोई अंतर नहीं है। दोनों ही 'देशी भाषा मिश्रित अपभ्रंश' अथवा 'परवर्ती अपभ्रंश' के पर्याय हैं।

2.2.3 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

कुछ विद्वान छन्दस् से अपभ्रंश तक की विकास प्रक्रिया को नहीं मानते हैं। उनके अनुसार, यह प्रदेश विशेष की बोली थी, जिसका अस्तित्व प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के युग में भी था। हम इस विवाद में पड़े बिना उन ऐतिहासिक कारणों की खोज करेंगे जिनके कारण अपभ्रंश व्यापक साहित्यिक भाषा के रूप में सामने आई।

जिस समय (आठवीं-नवीं शताब्दी) अपभ्रंश साहित्यिक भाषा के रूप में सामने आ रही थी, उस समय बंगाल के पालों और मान्यखेट के राष्ट्रकूटों की शक्ति मजबूत थी। पाल और राष्ट्रकूट राजाओं ने अपभ्रंश के कवियों को संरक्षण दिया। सरह, कण्ह आदि चौरासी सिद्ध कवि पालों के शासन काल में हुए। पुष्पदंत और स्वयंभू जैसे अपभ्रंश कवि राष्ट्रकूटों की छत्रछाया में काव्य रचना प्रस्तुत कर रहे थे। दसवीं शताब्दी में राष्ट्रकूटों की शक्ति क्षीण पड़ने लगी और गुजरात में सोलंकी चालुक्यों का प्रभाव बढ़ने लगा। सोलंकी चालुक्यों ने भी अपभ्रंश काव्य को प्रोत्साहित किया।

इन कारणों से अपभ्रंश साहित्य का निर्माण विस्तृत भूभाग में शुरू हुआ। एक ओर बंगाल में सरह और कण्ह इसी भाषा में दोहों का निर्माण कर रहे थे और मिथिला में ज्योतिरीश्वर और विद्यापति अपनी रचना प्रस्तुत कर रहे थे; दूसरी ओर मुल्तान में अद्दहमाण ने इसी भाषा को अपने काव्य का माध्यम बनाया था। पुष्पदंत और स्वयंभू ने इसी भाषा को काव्य के लिए चुना। पर इन सभी कवियों की भाषा में भेद था। इसका कारण था स्थानीय बोली का प्रभाव। कवि जिस प्रदेश में रचना कर्म कर रहा था, वहीं की स्थानीय बोली का प्रभाव उसकी रचना पर था। इस प्रकार अपभ्रंश के कई रूप स्थान के भेद के कारण सामने आते हैं। स्थान भेद के आधार पर अपभ्रंश को पश्चिमी और पूर्वी दो भागों में बाँटा जा सकता है। पश्चिमी अपभ्रंश के अंतर्गत जैन कवियों की रचनाएँ और पूर्वी अपभ्रंश के अंतर्गत नाथ-सिद्धों की रचनाओं को रखा जा सकता है।

काल भेद के आधार पर भी अपभ्रंश के दो भेद किए जा सकते हैं-पूर्ववर्ती अपभ्रंश और परवर्ती अपभ्रंश। परवर्ती अपभ्रंश का काल दसवीं शताब्दी के बाद माना जाता है। परवर्ती अपभ्रंश को 'अवहट्ठ' या 'देश भाषा मिश्रित अपभ्रंश' भी कहते हैं। इसी परवर्ती अपभ्रंश से आधुनिक बोलियों का स्वतंत्र रूप प्रकट हुआ। परवर्ती अपभ्रंश की रचनाओं में 'संदेशरासक', 'दामोदर पंडित का 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण', ज्योतिरीश्वर ठाकुर का 'वर्णरत्नाकर' और विद्यापति की 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' प्रमुख हैं।

बोध प्रश्न

1. निम्नलिखित कथन में से सही और गलत का चुनाव करें। (सही प्रश्न के आगे (✓) का और गलत प्रश्न (×) का चिह्न लगाएँ :

   क) प्रारभ में अपभ्रंश संज्ञा का प्रयोग 'शब्द' मात्र के लिए होता था। ( )

   ख) सुसंस्कृत भाषा को अपभ्रंश की संज्ञा दी गई। ( )

   ग) अपभ्रंश का प्राकृत से निकट का संबंध है। ( )

   घ) परवर्ती अपभ्रंश ही अवहट्ठ है। ( )

2. पूर्ववर्ती अपभ्रंश और परवर्ती अपभ्रंश में क्या अंतर है? (तीन पंक्तियों में उत्तर दें)

....

....

....

3. निम्नलिखित कथनों को पूरा करें:

(विकल्प नीचे दिए जा रहे हैं)

अपभ्रंश पर............................ .....का प्रभाव स्पष्ट था, जबकि पुरानी हिंदी पर........ ......का प्रभाव था। अपभ्रंश में.......................................शब्दों की अधिकता थी, जबकि पुरानी हिंदी में..................शब्दों का प्रचलन बढ़ा। ....और........................वस्तुतः एक ही भाषा के दो नाम हैं।

(प्राकृत, अवहट्ठ, तत्सम, पुरानी हिंदी, देशी भाषा)

2.3 अपभ्रंश साहित्य का अवलोकन

अब तक आप समझ गए होंगे कि आठवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक जो भाषा साहित्य जगत पर छाई रही, उसे हम अपभ्रंश के रूप में जानते हैं। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि सुदूर दक्षिण को छोड़कर समस्त भारत में इस काल में अपभ्रंश काव्य की रचना हुई। जिन प्रमुख कवियों ने इस भाषा को साहित्यिक गरिमा प्रदान की उनमें स्वयंभू और पुष्पदंत प्रमुख हैं। स्वयंभू को अपभ्रंश का पहला कवि माना जाता है। स्वयंभू की 'रामायण' और पुष्पदंत का 'महापुराण' भारतीय साहित्य के अनुपम ग्रंथ हैं। अन्य कवियों में जोइंदु, रामसिंह, हेमचंद्र, सोमप्रभ, जिनप्रभ, जिनदत्त, राजशेखर, शालिभद्र, अब्दुर्रहमान (अद्दहमाण) सरह और कण्ह आदि उल्लेखनीय हैं। इन कवियों ने चरित काव्य, गीति काव्य, विरह काव्य, रहस्य प्रधान कविता तथा कथा काव्य लिखे हैं।

इस भाग में हम अपभ्रंश साहित्य का सामान्य परिचय देने जा रहे हैं। हमारा उद्देश्य आपको यह बताना भर है कि हिंदी के साहित्यिक भाषा के रूप में सामने आने के ठीक पहले किस प्रकार का साहित्य किस प्रकार की भाषा में लिखा जा रहा था। आज उपलब्ध अपभ्रंश साहित्य का बहुत बड़ा भाग जैन कवियों द्वारा रचित धार्मिक साहित्य के रूप में मिलता है। जैन कवियों ने पौराणिक कथा प्रबंध, रहस्य और नीतिपरक रचनाएँ की हैं। जैन अपभ्रंश साहित्य की भाँति ही बौद्धों की अपभ्रंश रचनाएँ भी धार्मिक दृष्टिकोण से लिखी गई हैं। जैन-बौद्ध ग्रंथों के अतिरिक्त अपभ्रंश साहित्य की एक लौकिक धारा भी है, जिसमें शृंगार प्रधान प्रबंध एवं मुक्तक दोनों प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं। आइए, हम इनका अवलोकन करें।

2.3.1 स्वयंभू का काव्य

पौराणिक कथानकों को लेकर जैन कवियों ने अपभ्रंश में काफी मात्रा में प्रबंधात्मक साहित्य लिखा है। इन रचनाओं में धर्म, उपदेश तथा साहित्यिकता, तीनों का मिश्रण मिलता है। इस धारा के प्राचीन और श्रेष्ठ कवि स्वयंभू हैं। स्वयंभू ने राम और कृष्ण से संबंधित चरित काव्य परंपरा का विस्तार और विकास किया है। उन्होंने राम को लेकर 'पउमचरिउ' (पद्मचरित) तथा कृष्ण को लेकर 'रिट्ठणेमिचरिउ' (अरिष्टनेमिचरित) की रचना की है। स्वयंभू (अनुमानतः आठवीं शताब्दी) अपभ्रंश के पहले प्रमुख कवि हैं।

स्वयंभू मूलतः उत्तर के निवासी थे, परंतु बाद में वे अपने संरक्षक राजा धनंजय के साथ दक्षिण के राष्ट्रकूट राज्य में चले गए। स्वयंभू ने चार ग्रंथ लिखेः

1) पउमचरिउ (पद्मचरित अथवा रामचरित);

2) रिट्ठणेमिचरिउ (अरिष्टनेमि चरित या हरिवंश पुराण);

3) णाय कुमार चरिउ (नागकुमार चरित); और

4) स्वयंभू छंद।

पर स्वयंभू की प्रसिद्धि का आधार उनका रामकाव्य अर्थात् 'पउमचरिउ' है।

'पउमचरिउ' पाँच कांड और तिरासी संधियों (सर्गों) वाला एक विशाल महाकाव्य है। राम काव्य लिखने से पूर्व स्वयंभू अपना उद्देश्य स्पष्ट कर देते हैं। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि मैं जनता की भाषा में जनता के लिए काव्य का निर्माण कर रहा हूँ। राम का चरित्रांकन करते समय न तो उन्होंने आदर्श का दामन पकड़ा है और न ही उसमें किसी प्रकार की आलौकिकता का समावेश किया है, उन्होंने अपने मुख्य चरित्र राम को एक साधारण मनुष्य के रूप में प्रस्तुत किया है, जो आपदाओं के खिलाफ लड़ता है और जिसमें सहज मानवीय दुर्बलताएँ भी हैं। तुलसीदास के राम और स्वयंभू के राम में बड़ा अंतर है। तुलसी के राम, भगवान के अवतार हैं, पूज्य हैं, स्वयंभू के राम, साधारण मनुष्य हैं, जो सीता को पाने के लिए रोते हैं, रावण जैसे पराक्रमी राजा से संघर्ष कर उसे वापस प्राप्त करते हैं। वही राम सीता की प्राप्ति पर उसे संदेह की नज़र से देखते हैं और उसे अग्नि परीक्षा देने को विवश करते हैं।

> पुक्क-विमाणे[1] चडिए अणुराएं[2]
> परिमिय[3] विज्जाहर[4]- संघाएं[5]
> कोशल ण्यरि[6] पराइय[7] जावहिं
> दिणमणि[8] गउ अत्थ[9] वणहोतावहिं
> जत्थहो[10] पिययमेण[11] णिटवासिय[12]

इस प्रसंग का बड़ा ही मार्मिक चित्रण स्वयंभू ने किया है,जो उस समाज में नारी और पुरुष की स्थिति को स्पष्ट कर देता है। ऊपर दिए गए प्रसंग को पढ़ें और समझें :

सीता पुष्पक विमान पर चढ़कर बड़े अनुराग से आ जाती हैं। विद्वानों का समूह उन्हें घेरे हुए है। सीता को कौशल नगरी पराई लगने लगती है, क्योंकि सूर्य के अस्त होने के बाद भी उन्हें महल में जगह नहीं दी जाती है। पति आराम से महल में निवास कर रहा है और सीता पत्नी होकर भी उपवन में रात गुजारती है। सुबह होने पर राम सीता को देखते हैं।

> कंतहि[13] तणिय कंति[14] पक्खप्पिणु[15]
> पभण्इ पोम णाहु बिहसेप्पिण[16]
> जेइ वि कुलग्गयाउ णिवज्जउ[17]
> महिलउ होंति असुद्ध णिलज्जउ

---

1 पुष्पक विमान 2 अनुराग 3 घेरना 4 विद्याधर (विद्धान) 5 समुदाय 6 नगरी 7 पराई 8 दिनमान (सूर्य) 9 अस्त 10 जहा 11 पिया 12 निवास करते हैं 13 कांता (पत्नी) 14 कांति (शोभा) 15 देखना 16 विहँसना 17 निलज्ज

सीता अग्नि परीक्षा के लिए वरासन पर बैठती हैं। इसी समय राम सीता को और सीता राम को देखती हैं। दोनों की आँखों में मिलन की आकांक्षा है, वैसे ही जैसे समुद्र शुक्ल पक्ष के प्रथम दिन में चाँद को देखकर विचलित हो जाता है। पर इसी समय राम व्यंग्य से मुस्कुराते हैं और सोचते हैं कि ऐसी पत्नी को कैसे स्वीकार किया जाए जो बारह वर्षों तक दूसरे पुरुष के अधीन थी। राम धिक्कारते हुए कहते हैं कि नारी अशुद्ध होती है, निर्लज्ज होती है और मलिनमति होती है। त्रिभुवन में अपने-अपने कुल को मलिन कर अयश फैलाती है।

इस भाग के आरंभ में आपको बताया गया है कि स्वयंभू के राम और सीता साधारण स्त्री-पुरुष के रूप में आते हैं। स्वयंभू को इनका स्वाभाविक चित्र खींचने में अपूर्व सफलता मिली है। स्वयंभू के रामकाव्य में अनेक मार्मिक प्रसंग हैं, जिन्हें पढ़कर पाठक भावुक हुए बिना नहीं रह पाता। इसमें आहत लक्ष्मण के लिए राम का विलाप और मृत रावण के लिए विभीषण का विलाप प्रमुख हैं।

'रिट्ठणेमिचरिउ' या हरिवंशपुराण में स्वयंभू ने जैन परंपरा के बाइसवें अवतार तीर्थंकर अरिष्टनेमि, कृष्ण और कौरव-पांडवों की कथा का वर्णन किया है। कथा कहने की शैली तथा कवित्व शक्ति 'पउमचरिउ' में मिलती है। इन कृतियों में स्वयंभू, संगीत, कला तथा काव्यशास्त्र के गहरे अध्ययन और चिंतन का संकेत देते हैं।

2.3.2 पुष्पदंत का काव्य

पुष्पदंत अपभ्रंश के दूसरे बड़े कवि हैं। वे ब्राह्मण थे और उनका जन्म बरार में हुआ था। उनका काल 10वीं शताब्दी ई. है। उनका अधिकांश समय राष्ट्रकूट की राजधानी मान्यखेत में बीता। पुष्पदंत शुरू में शैव थे पर बाद में जैन हो गये।

पुष्पदंत की प्रसिद्धि का आधार उनकी प्रमुख रचना 'महापुराण' है। इसमें उन्होंने राम-कथा, कृष्ण-कथा और जैन तीर्थंकरों की जीवन गाथाओं को शामिल किया है। कट्टर जैन धर्मावलंबी होने के कारण उन्होंने स्वभावतः राम और कृष्ण कथा की अपेक्षा ऋषभ्देव को अधिक स्थान और महत्व दिया है। पुष्पदंत का काव्य कौशल रामकाव्य में प्रकट नहीं हो सका है। पर कृष्ण की बाललीला का वर्णन उन्होंने बड़ी कुशलता से किया है। पुष्पदंत के कृष्ण काफी नटखट हैं।

एक झाँकी देखिएः

> धूलि धूसरेण[1] वर-मुक्क[2] सरेण तिणा मुरारिणा[3]
> कीला[4] रस वसेण गोवालय-गोवी[5] हियय-हारिणा
> रंगतेण[6] रमत रमंते
> मंथउ[7] धरिउ भमंत अणते
> मंदीरउ[8] तोडिवि आ-वट्टिउँ
> अद्ध-विरोलिउ[9] दहिउँ पलोट्टिउ[10]
> कवि गोवि गोविंदहु लग्गी
> एक महारी मंथणि भग्गी[11]

धूल से सना वह मुरारी ब्रज की गोपियों के हृदय को हरने वाला है। वह क्रीड़ा करता है और गोपियाँ उसकी क्रीड़ा देख-देखकर मुग्ध होती हैं। आँगन में बाल-कृष्ण दौड़ा फिर रहा है; कभी मथनी को लेकर दौड़ता है,तो कभी दही की हाँडी तोड़ देता है, कभी आधा बिलोया हुआ दही पलट देता है। गोपियाँ कृष्ण की इस क्रीड़ा से नाराज नहीं होती, बल्कि उन्हें सुख मिलता है।

---

1 धूल से सने हुए 2 मुक्त 3 कृष्ण 4 क्रीड़ा 5 गोपी 6 आँगन 7 मथनी 8 मथानी 9 आधा बिलोया हुआ 10 पलटना 11 तोड़ना

इस भाग के आरंभ में आपने पढ़ा है कि पुष्पदंत ने राम काव्य और कृष्ण काव्य की अपेक्षा तीर्थंकर ऋषभ्देव की कथा को अधिक महत्व दिया। 'आदिपुराण' में ऋषभ्देव के जन्म से लेकर महानिर्वाण तक की कथा वर्णित है। इसके अतिरिक्त ऋषभ्देव के दो पुत्रों भरत और बाहुबलि की कथा का भी समावेश किया गया है।

स्वयंभू और पुष्पदंत अपभ्रंश के प्रमुख कवि हैं। इन्होंने अपभ्रंश की भाषा को साहित्यिक गरिमा प्रदान की। डॉ. नामवर सिंह के शब्दों में "इस तरह स्वयंभू और पुष्पदंत दोनों ही कवि अपभ्रंश-साहित्य के सिरमौर हैं। यदि स्वयंभू में भावों का सहज सौंदर्य है तो पुष्पदंत में बंकिम भंगिमा है; स्वयंभू की भाषा में प्रच्छन्न प्रवाह है तो पुष्पदंत की भाषा में अर्थगौरव की अलंकृत झांकी। एक सादगी का अवतार है तो दूसरा अलंकरण का उदाहरण।"

2.3.3 जैन कवियों के चरित काव्य और कथा काव्य

जैन कवियों ने पौराणिक पात्रों और लोकप्रिय व्यक्तियों को केंद्र में रखकर अनेक काव्य लिखे हैं। इसमें हरिभद्र सूरि (1159 ई.) का 'नेमिनाथ चरित', विनयचंद्र सूरि (1200 ई.) का 'नेमिनाथ चउपइ' पुष्पदंत का 'नागकुमार चरित' अथवा 'णायकुमार चरिउ' और 'जसहर चरिउ' प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त अपभ्रंश में ऐसे चरित काव्य भी लिखे गए, जिसका मुख्य पात्र या तो कवि की कल्पना की उपज होता था या फिर चरित्र लोक कथाओं से लिया गया होता था। इस प्रकार के काव्य को 'कथाकाव्य' कहने का भी प्रचलन था। इस दृष्टि से धनपाल (10वीं शताब्दी ई.) द्वारा रचित 'भविसयत्त कहा' अथवा 'भविष्यदत्त कथा' उल्लेखनीय है।

'भविसयत्त कहा' लोक प्रचलित प्रेमकथा पर आधारित है, जिसमें वणिकपुत्र भविष्यदत्त की करुण गाथा है। वह अपने सौतेले भाई द्वारा बार-बार छला जाता है और अंत में जैन धर्म को स्वीकार कर सुखी जीवन व्यतीत करता है।

इस काव्य में कई ऐसे मार्मिक स्थल हैं, जहाँ धनपाल की काव्य-प्रतिभा अपनी पूर्ण गरिमा के साथ सामने आती है भविष्यदत्त को अकेला छोड़कर जब उसका सौतेला भाई बंधुदत्त भाग जाता है, तो दुखी भविष्यदत्त अकेला पड़ा-पड़ा सोचता है:

गयं णिफफल[1] ताम सव्वं वणिज्जं[2]।
हुवं अम्ह गोतम्मि लज्जा-वणिज्जं।।
ण जत्ता[3] ण वित्त[4] मित्रं[5] ण गेहं[6]।
ण धम्मं ण कम्मं, ण जीयं, ण देहं।
ण पुतं कलतं ण इट्ठं ण दिट्ठे[7]।
गयं गयउरे दूर-देसे पइट्ठं।।

व्यापार के उद्देश्य से घर से निकला था, पर सब निष्फल रहा। मैं व्यापार में तो असफल रहा ही; न यश मिला न धन की प्राप्ति हुई, न मित्र बनाया न ही कोई घर बनाया। न धर्म की प्राप्ति की, न कोई कर्म किया। शरीर और प्राण भी आहत हो चुके हैं। न पुत्र की प्राप्ति हुई। मैं न यहाँ का रह गया न वहाँ का रह गया। और तो और अपने घर से इतनी दूर आ गया हूँ जहाँ कोई रहता भी नहीं है।

अपभ्रंश चरित काव्यधारा लंबे समय तक गतिशील रही है। अपभ्रंश चरित काव्य की परंपरा को आधुनिक बोलियों के साहित्य ने पीछे धकेल कर ठप्प कर दिया लेकिन इस

1 निष्फल 2 व्यापार 3 यश 4 धन 5 मित्र 6 घर 7 न यहाँ के रहे न वहाँ के रहे

परंपरा के काव्यरूप, कथानक रूढ़ियाँ, छंद-शैली आदि हिंदी साहित्य में गहरे प्रभाव के साथ प्रकट होते रहे हैं।

2.3.4 जैन कवियों का रहस्यवादी काव्य

जैन कवियों ने प्रबंधकाव्य तो लिखे ही साथ ही साथ उन्होंने दोहों के माध्यम से मुक्तक काव्य की रचना भी की। इस प्रकार के काव्य में रहस्यवादी साधना का स्वर सुनाई पड़ता है। पर इन कवियों का स्वर सांप्रदायिक नहीं है। इन्होंने अपनी कविता के माध्यम से जैन और ब्राह्मण धर्म की रूढ़ियों और बाह्याडम्बरों का विरोध किया है। भाषा, भाव और शैली की दृष्टि से ये दोहे निर्गुण काव्य के अंतर्गत आते हैं।

अपभ्रंश में निर्गुण काव्य लिखने वाले कवियों में जोइंदु (10वीं शताब्दी ईस्वी-परमात्म प्रकाश और योगसार) और रामसिंह (1100 ई. के आसपास-पाहुड़दोहा) प्रमुख हैं।

'पाहुड़दोहा', 'परमात्म प्रकाश' और 'योगसार', से श्रेष्ठ रचना है। इसमें लोकजीवन की घटनाओं के माध्यम से तत्व ज्ञान की बात आसानी से रख दी गई है। 'पाहुड़दोहा' का शाब्दिक अर्थ है 'दोहों का उपहार'। पाहुड़ का संस्कृत रूपांतर 'प्रभृत' है, जिसका अर्थ होता है 'उपहार'।

'पाहुड़दोहा' में रामसिंह ने पुराण-पंथी रूढ़िवादी प्रवृत्ति का विरोध किया है। उन्होंने उस 'षड्दर्शन' का विरोध किया है, जो एक ही ईश्वर के छह भेद कर देता हैः

छह-दसंण[1] धधइ पडिय, मणहँ[2] ण फिट्टिव भँति[3]।
एक्कुं देउ[4] छह भेउ किउ, तेणँ ण मोक्खहं[6] जांति।।

अर्थात् षट्दर्शन के धंधे में पड़कर मन की भ्रांति नहीं टूटी। एक देव के छह भेद किए, इसी कारण मोक्ष नहीं मिला।

यह शास्त्र विरोध वस्तुतः पुरोहितों और पंडितों पर सीधा प्रहार था। इन्होंने कोरे अक्षर ज्ञान का भी विरोध कियाः

बहुयइँ[7] पंढियइँ मूढ़, पर तालू सुक्कई[8] जेंण।
एक्कुजि[9] अक्खरू[10] तं पढुहु, सिवपुरी गम्मई[11] जेण।।

मूर्ख, तूने बहुत पढ़ाई कर ली है, इसी से तुम्हारा तालु सूखता है। एक ही अक्षर पढ़ो जिससे शिवपुरी पहुँचा जा सकता है। तात्पर्य यह कि शास्त्रज्ञान से अनुभव ज्ञान बड़ा है। रामसिंह अपने 'पाहुड़दोहा' में धार्मिक बाह्याडम्बरों का विरोध करते हुए लिखते हैं कि जो इनमें फँस गया वह मूल तक कभी नहीं पहुँच सकता है। मनुष्य पवित्र रहकर ही परमपद प्राप्त कर सकता है। पूजा-पाठ, तीर्थयात्रा आदि को पकड़ना तो उसी प्रकार है, जैसे जड़ को छोड़कर डाल को पकड़ा जाए। इसी उद्देश्य से यह दोहा रामसिंह ने रचा हैः

मूलु छंडि[12] जो डाल चडि, कहँ तह जोया भायसि[13]।
चीरूणु[14] वुणणहँ[15] जाइ बढ़, विणु उट्टिई कपासि।।

अर्थात् जड़ को छोड़कर जो डाल पर जा बैठता है, उसके लिए योगाभ्यास कहाँ? क्या रुई को ओटे बिना कपड़ा बुना जा सकता है? इस दोहे में रामसिंह ने स्पष्ट शब्दों में उन

1 दर्शन 2 मन 3 भ्रांति 4 देव 5 भेद 6 मोक्ष 7 बहुत 8 सूखना 9 एक ही 10 अक्षर 11 पहुँचना 12 छोड़कर 13 योगभ्यास 14 कपड़ा 15 बुनना

रूढ़ियों और बाह्य आचरणों पर प्रहार किया है, जो वास्तविक ज्ञान तक लोगों को नहीं पहुँचने देते। अनुभव से प्राप्त ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। जीवन से ही मनुष्य असली ज्ञान प्राप्त करता है। यह अनुभव शरीर के माध्यम से ही प्राप्त होता है। इसी कारण जैन मुनियों ने शरीर को मंदिर भी कहा है। इस शरीर में ही परमात्मा का निवास होता है।

2.3.5 बौद्ध सिद्ध काव्य

जैन कवियों के समानांतर पूर्वी प्रदेशों में सिद्ध कवि भी साहित्यिक अपभ्रंश में कविता लिख रहे थे। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि मगध में रहने के कारण उनकी भाषा में पूर्वी प्रयोग देखने को मिलता है। इसे आचार्य रामचंद्र शुक्ल 'देशभाषा मिश्रित अपभ्रंश' अर्थात् पुरानी हिंदी की काव्य भाषा मानते हैं।

सिद्धों की संख्या 84 थी। पर इनमें सरहपा अथवा 'सरोरुह वज्र' (8वीं शताब्दी ई.) और कण्हपा या कृष्ण पाद आचार्य (10वीं शताब्दी ई.) उल्लेखनीय हैं।

इन सिद्ध कवियों का जीवन के प्रति दृष्टिकोण सकारात्मक था। जैन कवियों के समान इन सिद्ध कवियों ने बाह्य आडंबरों का विरोध किया और अंतस्साधना पर बल दिया। अंतस्साधना पर जोर देते हुए और पंडितों को फटकारते हुए सरहपा लिखते हैं:

पंडिअ[16] सअल[17] सत्त[18] बक्खाणइ। देहहि बुद्ध[19] बसंत न जाणइ।
अमणागमण[20] ण तेन बिखंडिअ। तोवि णिलज्ज भणइ हउँ पंडिअ।।

पंडित लोग हमेशा सत्य ही बोलते हैं, जबकि उन्हें शरीर और बुद्धि का महत्व नहीं मालूम। वे आवागमन को तो समाप्त नहीं कर सके, तो भी ये निर्लज्ज अपने को पंडित कहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण अपने को विद्वान मानते हैं, पर इतना भी नहीं जानते कि अंतस्साधना से परम सुख प्राप्त किया जा सकता है। वे जीवन में व्याप्त सुख-दुःख में ही फँसे हैं और फिर भी अपने को ज्ञानी मानते हैं।

सरहपाद के इस दोहे को देखने पर मालूम होता है कि इसकी वाणी जैन कवियों की वाणी से अधिक कठोर है। लेकिन इसका दृष्टिकोण नकारात्मक न होकर सकारात्मक है। सरहपा ने कुछ 'रहस्यात्मक' शब्दों का इस्तेमाल बार-बार किया है, पर इनकी भाषा स्पष्ट है। सरहपा बड़े साधारण लहजे में कहते हैं:

जहि मण पवण ण संचरइ, रवि ससि णाह पवेस।
तहि बढं, चित्त विसाम करू, सरहें कहिउ उएस।।

अर्थात् जहाँ मन और पवन भी नहीं पहुँच सकते, जहाँ सूर्य और चंद्रमा का प्रवेश नहीं है, वहीं अपने मन को ले जाओ; सरह ने सही उपदेश दिया है।

सिद्ध परंपरा में गुरु-शिष्य संबंध को बहुत महत्व दिया जाता है। लेकिन सरहपा का कहना है कि शिष्य और गुरु दोनों को ही ज्ञानी होना चाहिए। अगर एक अंधा कुँए में गिरा हो तो दोनों कुँए में गिर पड़ेंगेः

जाव ण आप जणिज्जइ, ताव ण सिस्स करेइ।
अन्धाँ अन्ध कढव तिम, वेणण वि कूप पडेइ।।

16 पंडित 17 सारे 18 सत्य 19 बुद्धि 20 आवागमन

अर्थात् जब तक आप ठीक से न जान लें, तब तक किसी को शिष्य न बनाएँ। अंधा अगर दूसरे अन्धे को कुएँ से निकालने का प्रयत्न करेगा, तो दोनों कुएँ में गिर पड़ेंगे।

सिद्ध कवियों ने शास्त्र ज्ञान को उस सीमा तक ही महत्वपूर्ण माना है, जिससे शास्त्र का खंडन किया जा सकेः

अक्खर बाढ़ा सअल जगु, णाहि निरक्खर कोइ।
ताव से अक्खर घोलिया, जाव निरक्खर होइ।।

अर्थात् सकल जग अक्षर (शास्त्र ज्ञान) से बाधित है। निरक्षर कोई नहीं है। इसलिए उतना ही अक्षर घोलो (उतना ही शास्त्र प्राप्त करो) जिससे निरक्षरता प्राप्त हो (शास्त्र ज्ञान का खंडन किया जा सके)।

सरहपा की तरह कण्हपा भी वेद और पुराण के ज्ञान की आलोचना करते हैं :

आगम-वेअ-प्रणेहि, पण्डिअ माण वहन्ति।
पक्क-सिरीफले सलिअ जिम बाहेरीअ भमन्ति।।

अर्थात् आगम-वेद, पुराण को ही सब कुछ मानकर विद्वद्जन उन्हें ढोते फिरते हैं। उसी प्रकार जिस प्रकार श्रीफल के बाहर ही भौंरे घूमते रहते हैं।

जाति-पाँति का खंडन, झूठे शास्त्र ज्ञान की निंदा, सद्गुरु की महिमा का बखान इनके काव्य की विशेष प्रवृत्ति रही है। नाथ-पंथ के जोगियों ने नागर अपभ्रंश या ब्रज का ढाँचा लिया जिसमें खड़ी बोली और राजस्थानी मिश्रित भाषा की झलक मिलती है।

2.3.6 वीर और शृंगार काव्य

अब तक आपने अपभ्रंश काव्य के जिस हिस्से का परिचय प्राप्त किया, उस काव्य का केंद्रीय विषय पौराणिक-ऐतिहासिक चरित्र, घटना और धर्म आदि था। अब जिस काव्य का परिचय आप प्राप्त करने जा रहे हैं, उनमें वीर रस और शृंगार रस की कविताओं का वर्चस्व है। इस सिलसिले में हम दो ग्रंथों की चर्चा करेंगे। हेमचंद्र का 'प्राकृत व्याकरण' और अद्दहमाण का 'संदेश रासक'। सबसे पहले आइए, हम हेमचंद्र रचित 'प्राकृत-व्याकरण' में संकलित दोहों का मूल्यांकन करें।

हेमचंद्र-प्राकृत-व्याकरण के दोहे

हेमचंद्र ने दसवीं शताब्दी में 'सिद्ध हेमचंद्र शब्दानुशासन' नामक एक व्याकरण ग्रंथ लिखा। इसमें उन्होंने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों का समावेश किया। किंतु विशेष बात यह है कि अपभ्रंश का उदाहरण देते समय उन्होंने पूरा का पूरा दोहा उद्धृत किया है। उन्होंने अपभ्रंश के जिन दोहों को उद्धृत किया है उनके रचयिताओं के बारे में ठीक से कुछ मालूम नहीं हो सका है। विद्वानों का अनुमान है कि ये रचनाएँ हेमचंद्र के व्याकरण से पहले की हैं।

हेमचंद्र के व्याकरण में जो अपभ्रंश के दोहे संकलित हैं, उनमें अपभ्रंश के शृंगार और वीर काव्य का परिचय मिलता है। नायिका कभी यह नहीं चाहती कि उसका पति लड़ाई के मैदान से जान बचाकर भाग आए और उसे सखियों के सामने लज्जित होना पड़े। वह तो यह चाहती है कि इससे तो अच्छा है कि उसका पति युद्ध में वीरगति को प्राप्त हो, ताकि वह समाज में गर्व से जी सकेः

भल्ला हुआ जू मारिया बहिणि म्हारा कंतु[1] ।
लज्जेअं तु वयंसिअहु[2] जइ भग्ग घरू एंतु[3]।।

अर्थात् भला हुआ जो मेरा पति युद्ध में मारा गया, हे बहिन! यदि वह भागा हुआ घर आता तो मैं अपनी समवयस्काओं के सम्मुख लज्जित होती।

हेमचंद्र के अपभ्रंश के उदाहरण इस प्रकार की लोक-भावनाओं से भरे पड़े हैं। नायिका वीर पति की कामना करती हैं; ऐसे वीर पति की, जो मतवाले हाथी से जूझने में भी न हिचके। देखिए एक दोहाः

आयहिं जम्महिं[4] उन्नहिं वि गोरि सु दिज्जहि कंतु।
गय मतहँ चंतकुसंह[5] जो अब्भिडई[6] हसंतु।

इस दोहे में नायिका पार्वती से प्रार्थना कर रही है कि हे गौरी, इस जन्म में और दूसरे जन्म में भी ऐसा पति दीजिए, जो मतवाले, निरंकुश हाथियों से हँसता हुआ जा भिड़े।

जिस समय अपभ्रंश काव्य लिखा जा रहा था, उस समय भारतीय रजवाड़े सामंतवाद की विकृतियों से ग्रस्त थे तथा देश बाहरी आक्रमणों को झेल रहा था। स्थिति में इतनी गिरावट आ गयी थी कि नायिका अपने प्रिय से कहती है कि उस देश में चलें जहाँ तलवार का व्यवसाय मिले, अगर हम यहाँ रहे तो हमारे अंग शिथिल पड़ जाएँगे, हम अस्वस्थ हो जाएँगे :

खग्ग[7]-बिसहिउ[8] जहिं लहहुँ पिय तहिंदेसहिं जाहुँ।
रण दुब्भिक्खें[9] भग्गाई विणु जुज्झें न बलाहुँ।।

अर्थात् हे प्रिय, जहाँ खड्ग का व्यवसाय मिले उसी देश में चलें; रण-दुर्भिक्ष में हम भग्न (क्षीण) हो गए हैं। बिना युद्ध के नहीं सँभलेंगे (स्वस्थ होंगे)।

नायिकाएँ वीर पति की कामना करती हैं। युद्ध से उन्हें प्रेम है, पर प्रिय का वियोग उन्हें भी सताता है और वे प्रिय को आता देखकर खुशी से इतनी मोटी हो जाती हैं कि उनकी चूड़ियाँ टूट जाती हैं। देखिए, ऐसी ही नायिका का एक चित्रः

वायसु[10] उडावंतिअए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा बल्ला[11] महिहि[12] गये अद्धा फुट तडत्ति।।

इस दोहे में नायिका कौआ उड़ा रही है, तभी प्रिय दीख पड़ता है। उसकी आधी चूड़ी तो ज़मीन पर गिर जाती है और आधी फूट जाती है।

प्रेमिका सोचती है कि जब प्रिय मुझसे मिलेंगे तब मैं उसमें उसी तरह समा जाऊँगी, जिस तरह नए पुरवे (मिट्टी का बना पानी पीने का पात्र) में जल समा जाता है। इसमें प्रेमिका के पूर्ण आत्मसमर्पण की झलक मिलती हैः

जइ केवँइ पावीसु पिउ अकिअ[13] कुड्डु[14] करीसु।
पाणिउ नवइ सराबि[15] जिवं सब्बंगें पइसीसु।।

---

1 पति 2 समवयस्क, सहेली 3 आता 4 जन्म में 5 व्यातांकुश (निरंकुश) 6 भिडना 7 खड्ग (तलवार) 8 व्यवसाय 9 दुर्भिक्ष (अकाल) 10 कौआ 11 चूड़ी 12 जमीन पर 13 अकृत (अपूर्व) 14 कौतुक 15 शराब का पुरवा

नायिका सोचती है कि यदि किसी प्रकार प्रिय को पा लूँगी तो अकृत (अपूर्व) कौतुक करूँगी। जिस प्रकार पानी नए पुरवा में समा जाता है, उसी प्रकार मैं भी प्रिय में सर्वांग प्रवेश कर जाऊँगी।

लेकिन जब प्रिय नहीं आता, तो प्रेमिका निराश हो जाती है और अपनी तुलना उस पपीहे से करती है, जो जल के वियोग में पी-पी की रट लगाता रहता हैः

बप्पीहा[1] पिउ पिउ भणवि[2] कित्तउ रूअहि हयास[3]।
तुह जलि महु पुणु बल्लहइ[4] बिहुँ विन पूरिअ आस।।

अर्थात् हे पपीहा, पी-पी बोलकर हताश होकर कितना रोएगा। तेरी और मेरी स्थिति एक जैसी ही है। तू जल की रट लगा रहा है और मैं अपने प्रिय की रट लगा रही हूँ। पर हम दोनों में किसी की भी आशा पूरी नहीं होगी।

प्रिय बड़ा धोखेबाज है। वह कहकर गया कि मैं थोड़े दिनों में वापस आ जाऊँगा, पर वह अब तक आया नहीं। दिन गिनते-गिनते प्रेमिका की अंगुलियाँ घिस गई हैंः

जे महु दिग्णा दिअहडा[5] दइएँ पवसन्तेण[6]।
ताण गणन्तिए[7] अंगुलिउ जज्जरिआउ[8] नहेण[9]।।

अर्थात् मुझे छोड़कर जाते समय प्रिय ने लौटने का जो दिन बताया था, उस दिन नहीं लौटा। उसके बाद दिन गिनते-गिनते नख से मेरी अँगुलियाँ जर्जरित हो गई हैं।

ऊपर जिन दोहों को आपने पढ़ा, उनसे आप यह समझ गए होंगे कि अपभ्रंश भाषा में किस प्रकार का वीर काव्य और श्रृंगार काव्य लिखा जा रहा था। इसमें ऐसी नायिकाओं का वर्णन है, जो युद्ध में अपने प्रिय के वीरगति प्राप्त करने पर आँसू नहीं बहातीं, बल्कि इसे अपना सौभाग्य मानती हैं। उनका मन उस देश में नहीं रमता, जहाँ का वातावरण युद्ध विहीन हो। दूसरी तरफ ये प्रेमिकाएँ अपने प्रिय के वियोग में दुबली भी होती हैं, प्रिय के आने पर खुशी उन्हें भी होती है और उनमें सर्वांग समा जाने की बात करती हैं, पर प्रिय के न आने पर अपनी तुलना उस पपीहे से करती हैं, जो पी-पी की रट लगाता हुआ अंततः प्यासा ही रहता है। प्रिय के आने का दिन बीत जाता है, वह नहीं आता। प्रेमिका की अँगुलियाँ दिन गिनते-गिनते जर्जरित हो जाती हैं।

अभी आपने हेमचंद्र के 'प्राकृत व्याकरण' में आए दोहों को पढ़ा और उनका अर्थ समझा। आइए, अब 'संदेश रासक' को पढ़ें और समझने की कोशिश करें।

संदेश रासक

संदेश रासक एक संदेश काव्य है जिसके रचयिता अब्दुर्रहमान या अद्दहमाण (12वीं शताब्दी ई.) हैं। इसमें विजय नगर की विरहिणी नायिका एक पथिक से पति को संदेश भेजती है। इसमें दो सौ तेईस छंद हैं। हालाँकि कवि ने इसमें एक कथा कही है, पर इसका प्रत्येक छंद अपने आप में स्वतंत्र है। कवि का उद्देश्य कथा कहना नहीं है, उसका एक ही उद्देश्य है-नायिका का विरह वर्णन। नायिका एक पथिक को रोक कर अपने हृदय की व्यथा सुनाती है :

---

1 पपीहा 2 रटना 3 हताश 4 बल्लभ, पति, प्रिय 5 दिन 6 प्रवास करते समय 7 गिनती गिनते 8 जर्जरित 9 नख

विरह परिग्गह[1] छावडइ[2] पहराविउ[3] निरवक्खि[4]।
तुट्टी देह ण हउ[5] हियउ, तुअ संमाणिय पिक्खि।।

विरह के परिग्रह (सैन्यब आदि) ने छावड़ी (शरीर) पर निरपेक्ष भाव से (अनदेखे ही) प्रहार कर दिया, जिससे देह तो टूट गई परंतु तुमसे सम्मानित (युक्त) देखकर हृदय घायल नहीं हुआ। तात्पर्य यह कि विरह के कारण नायिका का शरीर बहुत कमजोर हो गया है, पर प्रिय के प्रति उसका प्रेम इतना गहरा है कि उसके हृदय पर इस विरह का आक्रमण नहीं हो पाता है।

नायिका पथिक से कहती है कि मैं अपनी व्यथा सविस्तार नहीं सुना सकती। क्योंकि मैं बहुत कमजोर हो गई हूँः

संदेसडउ[6] सवित्थरउ[7] पर मइ कहणु न जाइ।
जो कालंगुलि[8] मूँदडउ[9] तो बाहडी[10] समाइ।।

संदेशा विस्तार में है, अर्थात् मुझे प्रिय के पास अपनी व्यथा का पूरा ब्यौरा भेजना है, पर मुझमें इतनी ताकत नहीं कि विस्तार से पूरा वर्णन कर सकूँ। बस यही समझो कि जो कनगुरिया या छोटी उँगली की अँगूठी थी, वह अब मेरी बाँह में समा जाती है।

इस प्रकार पूरा संदेशरासक विरह-वर्णन से भरा पड़ा है। इसमें ऋतुओं का वर्णन विस्तार से हुआ है। कवि के सामने वस्तुओं के नाम गिनाने की कवि-पारिपाटी थी। फलतः कवि ने वनस्पतियों की नामावली दी है। दीपावली, होली आदि उत्सवों का तन्मयता से वर्णन किया है। कृति में अनेक छंदों का प्रयोग है पर सर्वाधिक रासक छंद का प्रयोग मिलता है। इसे पढ़ते समय कालिदास के 'मेघदूत' का विरह वर्णन याद आ जाता है। हिंदी में भी इसी प्रकार का एक ग्रंथ लिखा गया है 'बीसलदेव रासो', जिसकी चर्चा अगली इकाई में की जाएगी।

बोध प्रश्न

4. अपभ्रंश के सर्वप्रथम दो जैन कवियों का नामोल्लेख करें।

क) ....

ख) ....

5. नीचे दी गई तालिका में रचना और रचनाकार का सही मिलान कीजिए।

रचना		रचनाकार
क)	स्वयंभू	पाहुड़दोहा
ख)	पुष्पदंत	नेमिनाथ चरिउ
ग)	हरिभद्र सूरि	भविसयत्त कहा
घ)	धनपाल	णाय कुमार चरिउ
ड.)	रामसिंह	पउम चरिउ

---

1 परिग्रह 2 छाबड़ा (बेंत की बनी टोकरी : शरीर के लिए प्रयुक्त) 3 पहरा 4 निरपेक्ष 5 हत (घायल) 6 संदेह 7 सविस्तार 8 कनगुरिया (कानी अँगुली) 9 मुँदरी (अँगूठी) 10 बाँह में।

6. रिक्त स्थान की पूर्ति करें।

   सिद्धों की संख्या............... ....(84/88) थी।

   इनमें................और................................. (रामसिंह और अद्दहमाण/ सरहपा और कण्हपा) प्रमुख थे। इन्होंने अपनी रचनाओं में ....

   (जाति-पाँति का समर्थन/खंडन) और..

   (सद्गुरु की महिमा/राजा की महिमा) का बखान किया है।

7. अपभ्रंश के दो शृंगारिक ग्रंथों का उल्लेख करें। इनमें कौन सा ग्रंथ मेघदूत और बीसलदेव रासो के बीच की कड़ी है? (तीन पंक्तियों में उत्तर दें)

   ....

   ....

   ....

2.4 अपभ्रंश और हिंदी साहित्य का संबंध

प्रस्तुत इकाई में अभी तक आपने अपभ्रंश काव्य का परिचय प्राप्त किया और उसकी प्रवृत्तियों से अवगत हुए। अपभ्रंश काव्य का अध्ययन करते समय आपने पाया कि जिन विषयों को कवि ने अपनी कविता का माध्यम बनाया है उनमें पौराणिक कथाएँ (राम काव्य, कृष्ण काव्य, तीर्थंकरों के जीवन पर आधारित काव्य), धार्मिक रूढ़ियों और बाह्याडंबरों का विरोध, ऐतिहासिक या लोक नायक का चरित्र (चरित काव्य), शौर्य और शृंगार प्रमुख हैं। इस परंपरा को हिंदी काव्य परंपरा ने और आगे बढ़ाया। हिंदी में वीर गाथात्मक काव्य लिखे गए, जिनमें अपभ्रंश के चरित काव्यों की झलक मिलती है। इसी प्रकार सिद्ध-नाथ कवियों की वाणी संत काव्य की पूर्वपीठिका मालूम पड़ती है। हिंदी का काव्य 'बीसलदेव रासो' और 'ढोला मारू-रा-दूहा', 'संदेश रासक' की परंपरा में ही आते हैं। इसके अतिरिक्त रीतिकाव्य में जिस चमत्कार की प्रवृत्ति की तरफ विद्वानों ने इशारा किया है, वह प्रवृत्ति अपभ्रंश के शृंगारिक दोहों में मौजूद है।

2.4.1 अपभ्रंश और हिंदी का चरित काव्य

अपभ्रंश में चरित काव्यों की रचना हुई है। इन चरित काव्यों में पुष्पदंत का 'नागकुमार चरित' और 'जसहर चरिउ' प्रमुख हैं। इसमें प्रमुख पात्रों की वीरता और शौर्य का बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन किया गया है लेकिन इन पात्रों को ऐतिहासिक नहीं मान सकते, क्योंकि इतिहास में इनका कहीं भी उल्लेख नहीं है। ये मुख्यतः काल्पनिक पात्र हैं।

दूसरी तरफ, हिंदी में भी चरित काव्य लिखे गए हैं, जो रासो-काव्य के नाम से प्रसिद्ध हैं, जैसे पृथ्वीराज रासो, हम्मीर रासो, खुमाण रासो आदि। इनमें राजाओं के धन-वैभव, शौर्य, विवाह-शादी आदि का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन हुआ है। पर अपभ्रंश में लिखे चरित काव्य और हिंदी में लिखे चरित काव्य में एक अंतर यह है कि अपभ्रंश में जहाँ पौराणिक और अनैतिहासिक पात्रों की कीर्तिगाथा गाई गई है, वहीं हिंदी में ऐतिहासिक पात्रों को केंद्र में रखा गया है। लेकिन यह भी सच है कि हिंदी के कवियों ने भी ऐतिहासिकता का ध्यान नहीं रखा है और अपनी कल्पना शक्ति का ज्यादा इस्तेमाल किया है। अपभ्रंश के चरित काव्य में भी कवि की कल्पना शक्ति ही प्रमुख है।

2.4.2 अपभ्रंश और हिंदी का भक्ति काव्य

अपभ्रंश में एक तरफ जैन कवियों ने राम और कृष्ण काव्य लिखे तो दूसरी ओर सिद्ध-नाथ कवियों ने धार्मिक रूढ़ियों और बाह्याडंबरों का विरोध करते हुए अंतस्साधना पर जोर दिया है। जहाँ तक अपभ्रंश में लिखे राम काव्य और कृष्ण काव्य का सवाल है, उसके बारे में स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि हिंदी के राम काव्य और कृष्ण काव्य पर उसका प्रभाव कम पड़ा। भक्तिकाल की मूल चेतना 'भक्ति' थी, जिससे इस युग का राम काव्य और कृष्ण काव्य ओत-प्रोत है। राम और कृष्ण ईश्वर के अवतार हैं। जैन काव्य में राम और कृष्ण साधारण पौराणिक पात्र के रूप में सामने आते हैं, इस काव्य में 'भक्ति ' नहीं है, राम और कृष्ण अवतार नहीं हैं।

पर कबीर आदि निर्गुण कवियों के काव्य, सिद्ध-नाथ काव्य से प्रभावित हैं। इस संदर्भ में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह मत द्रष्टव्य है : ''यदि कबीर आदि निर्गुण मतवादी संतों की वाणियों की बाहरी रूपरेखा पर विचार किया जाए तो मालूम होगा कि यह संपूर्णतः भारतीय है और बौद्ध धर्म के अंतिम सिद्धों और नाथपंथी योगियों के पदादि से उसका सीधा संबंध है। वे ही पद, वे ही राग-रागिनियाँ, वे ही दोहे, वे ही चौपाइयाँ कबीर आदि ने व्यवहार की थीं जो उक्त मत मानने वाले उनके पूर्ववर्ती संतों ने की थीं। क्या भाव, क्या भाषा, क्या अलंकार, क्या छंद, क्या पारिभाषिक शब्द, सर्वत्र वे ही कबीरदास के मार्गदर्शक हैं। कबीर की भाँति ये साधक नाना मतों का खंडन करते थे, सहज और शून्य में समाधि लगाने को कहते थे, दोहों में गुरु के प्रति भक्ति का उपदेश देते थे।''

सरहपा का एक पद आपने पिछले भाग में पढ़ा है। वह इस प्रकार हैः

> जहि मण पवण ण संचरइ, रवि ससि णांह पवेस।
> तहि बढ चित्त विसाम करू, सरहें कहिउ उएस।।

कबीर ने भी इसी प्रकार की एक साखी लिखी हैः

> जिहि बन सीह न संचरै, पंखि उड़े नहिं जाय।
> रैनि दिवस का गम नहीं, तहँ कबीर रहा लौ लाइ।।

यह सही है कि कबीर आदि साधकों ने नाथपंथियों और सहजयानियों के बहुत से पद थोड़े फेर बदल के साथ स्वीकार कर लिए हैं, पर इसका मतलब यह नहीं है कि कबीर आदि साधकों ने नाथपंथियों की नकल की है। इनके काव्य में भक्ति का रस मिला हुआ है, जो सिद्ध-नाथ कवियों में उपस्थित नहीं है।

2.4.3 अपभ्रंश और हिंदी का शृंगार काव्य

अपभ्रंश काव्य का परिचय प्राप्त करने के क्रम में हमने हेमचंद्र के व्याकरण में उद्धृत अपभ्रंश के कुछ दोहे पढ़े, साथ ही साथ हमने 'संदेश रासक' का भी परिचय प्राप्त किया है। 'संदेश रासक' के ढर्रे पर हिंदी में भी दो विरह काव्य मिलते हैं। ये हैंः बीसलदेव रासो (14वीं शताब्दी ईस्वी) और 'ढोला-मारू-रा-दूहा' (15वीं शताब्दी ईस्वी)।

'संदेश रासक' की तरह 'बीसलदेव रासो' भी मूलतः विरह काव्य है और दोनों की मुख्य भावधारा एक है, लेकिन 'बीसलदेव रासो' पर 'संदेश रासक' की अपेक्षा लोक-जीवन का प्रभाव अधिक है। इसके छंद लोकगीत से मिलते-जुलते हैं। इस प्रकार से 'बीसलदेव रासो'

शिल्प की दृष्टि से 'संदेश रासक' का अनुकरण नहीं करता। 'ढोला-मारू-रा-दूहा' भी एक विरहगीत है। अंतर केवल यह है कि इसे कथा काव्य (जिसमें कथा की प्रधानता होती है) के रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश की गई है। 'ढोला-मारू-रा-दूहा', 'संदेश रासक' और 'बीसलदेव रासो' से इस अर्थ में भी भिन्न है कि इसमें संदेश भेजने के लिए क्रौंच पक्षी को चुना गया है। 'संदेश रासक' में नायिका एक पथिक को रोककर अपनी विहर व्यथा सुनाती है, और 'बीसलदेव रासो' में राज्य के पंडित को संदेश वाहक बनाया गया है।

'ढोला-मारू-रा-दूहा' इस दृष्टि से थोड़ा भिन्न है। शैली की दृष्टि से 'ढोला-मारू-रा-दूहा' लोकगीत के निकट है। 'संदेश रासक' मुल्तान में लिखा गया, 'बीसलदेव रासो' और 'ढोला-मारू-रा-दूहा' की रचना मारवाड़ प्रदेश में हुई। यह काव्य पश्चिमी भारत के लोक जीवन के प्रमाण हैं।

हेमचंद्र द्वारा उद्धृत दोहों में श्रृंगार काव्य के कुछ ऐसे नमूने मिल जाते हैं, जिनमें चमत्कार की प्रधानता है। चमत्कार की यह प्रवृत्ति रीतिकाल में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची है। प्रिय के वियोग में नायिका इतनी दुबली हो गई है कि उसकी चूड़ी जमीन पर गिर जाती है और प्रिय को देखते ही वह इतनी मोटी हो जाती है कि उसकी चूड़ियाँ टूट जाती हैं। काव्य में इस प्रकार के चमत्कार का समावेश रीतिकाव्य की पंक्तियों की याद दिलाता है।

2.5 अभिव्यंजना शिल्प

अब आप समझ गए होंगे कि अपभ्रंश में लिखा जाने वाला काव्य हिंदी में लिखे जाने वाले काव्य की पूर्व पीठिका है। हिंदी भाषा को अपनाते हुए अपनी प्रकृति के अनुसार विकास किया गया है। यहाँ भाषागत गहराइयों में जाने का न तो अवसर है और न ही उसकी जरूरत। हम यहाँ केवल इतना जान लें कि दोनों भाषाओं में बहुत सी समानताओं-असमानताओं के बावजूद इन भाषाओं में लिखे गए साहित्य में काफी समानता है। इसकी चर्चा हम पिछले भागों में कर चुके हैं। लेकिन हिंदी ने अपभ्रंश के जिस गुण का सबसे ज्यादा निर्वाह किया है वह है काव्य पद्धति या काव्य शिल्प। काव्य शिल्प कविता रचने की पद्धति को कहते हैं। काव्य शिल्प के अंतर्गत हम उन छंदों और कथानक रूढ़ियों की चर्चा करेंगे, जिनका प्रयोग अपभ्रंश के साथ-साथ हिंदी में भी हुआ है।

सबसे पहले हम छंद पर चर्चा करते हैं। अपभ्रंश में सबसे ज्यादा जिस छंद का प्रयोग हुआ है वह है दोहा। इसके अतिरिक्त चौपाई का उपयोग भी अपभ्रंश के कवियों ने किया है। इसके साथ ही साथ 'काव्य' अथवा 'रोला','छप्पय' आदि छंदों का प्रयोग भी अपभ्रंश की कविता में हुआ है। इनमें से अधिकांश छंदों का प्रयोग हिंदी में हुआ है। जायसी के 'पद्मावत' और तुलसीदास के 'रामचरित मानस' में चौपाई और दोहे का प्रयोग अपभ्रंश के छंदों की स्मृति को ताजा कर देता है।

हिंदी के समृद्ध गेय काव्य की जड़ें अपभ्रंश काव्य में निहित हैं। इस क्षेत्र का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण कवि जगनिक द्वारा रचित 'परमाल रासो' या 'आल्हखंड' है।

रास, फाग, चाँचर आदि अपभ्रंश भाषा के प्रमुख गेय काव्य हैं। 'रास काव्य' गेय काव्य था जिसमें रासा या रास छंद प्रयुक्त होता था, पर एकरसता भंग करने के लिए बीच-बीच में दूसरे छंद भी दिए जाते थे। आगे चलकर 'रास काव्य' उस काव्य रूप का नाम हो गया

जिसमें गेय छंदों की प्रधानता हो। हिंदी का 'बीसलदेव रासो' ऐसा ही 'रासो काव्य है। यह काव्य रूप मूलतः कोमल भावों (प्रेम प्रसंग, शृंगार वर्णन आदि) का वाहक था, किंतु वीर गाथाओं के लिए भी उस काव्य रूप का उपयोग होने लगा, जैसे 'पृथ्वीराज रासो'।

'फाग' एक लोकगीत है जिसे बसंत में गाया जाता है। जैन कवियों के फागों में धार्मिक विचारधारा साफ झलकती थी। जिनपद्म सूरि का लिखा एक फाग **'थूलिभद्द'** उपलब्ध है। हिंदी में कबीरदास के नाम से कुछ 'फाग' मिलते हैं। फाग गाने की यह परंपरा आज तक गाँवों में जीवित है। होली के अवसर पर गाँव के लोग अब भी 'फाग' गाते हैं।

हिंदी में गेय पदों की लंबी परंपरा है। सूरदास का संपूर्ण 'सूर सागर', तुलसी की 'गीतावली' तथा 'विनय पत्रिका' गेय पदों में ही रचित है संभवतः इस गेय परंपरा पर अपभ्रंश का प्रभाव है। अपभ्रंश में भी गेय पदों में कविता लिखी जाती थी। सिद्धों के 'चर्यापद' वस्तुतः गेय पद ही हैं।

कथानक रूढ़ियाँ

अभी हमने उन छंदों और काव्य पद्धतियों की बात की, जो अपभ्रंश में भी मिलते हैं और हिंदी में भी। अब हम कुछ ऐसी ही कथानक रूढ़ियों की चर्चा करेंगे। काव्य में कथानक रूढ़ियाँ लोक-विश्वासों पर आधारित होती हैं। बार-बार प्रयुक्त होने के कारण रूढ़ि बन जाती हैं। भारतीय साहित्य में कथानक रूढ़ियों की भरमार है। कथानक रूढ़ियों के अंतर्गत काव्य-शिल्प और काव्य में प्रयुक्त प्रतीकों की चर्चा की जाएगी। मसलन, प्रबंध काव्य लिखने का एक अनुशासन बना दिया गया। जैसे, आरंभ, मंगलाचरण, आत्मनिवेदन, दुर्जन निन्दा, सज्जन प्रशंसा आदि। अपभ्रंश में इस पद्धति पर प्रबंध काव्य लिखने की प्रवृत्ति बढ़ी और हिंदी के महत्वपूर्ण कवि तुलसीदास ने इस नियम का पालन किया। इसी प्रकार मुक्तक काव्य में कवि का नाम रखने की प्रथा थी। अपभ्रंश में तो केवल सरह की रचनाओं में यह प्रवृत्ति देखने को मिलती है, पर हिंदी में अधिकांश मुक्तक कवियों (बिहारी को छोड़कर) ने इस परिपाटी का निर्वाह किया है। इसी प्रकार नख-शिख वर्णन, संध्या-ऊषा वर्णन तथा फूलों का वर्णन आदि भी बिल्कुल नियमानुसार होता है। नख-शिख वर्णन संबंधी इन रूढ़ियों की प्रस्तुति स्वयंभू और पुष्पदंत के काव्य में मिलती है। 'पृथ्वीराज रासो' में इस परिपाटी का पूर्ण पालन हुआ है। अपभ्रंश के काव्यों में विशेष रूप से इन कथानक रूढ़ियों का प्रयोग किया गया है प्रयुक्त होने वाली प्रमुख कथानक रूढ़ियाँ हैं: 1) उजाड़ नगर का मिलना, कुमारी दर्शन तथा उसके विवाह (भविसयत्तकहा) 2) प्रथम दर्शन, गुण श्रवण या चित्र दर्शन से प्रेम (करकंड चरिउ, णाय कुमार चरउ) 3) दीपांतर, विशेष कर सिंहल देश की यात्रा और जहाज डूबना (भविसयत्तकहा)। काव्यों की बाह्य प्रबंध रूढ़ियाँ भी परवर्ती साहित्य में पाई जाती हैं।

क) अपभ्रंश के सभी प्रबंध काव्य संधियों में विभक्त हैं। स्वयंभू के दोनों महाकाव्य कांडों में विभक्त हैं पर संधियों को भी स्थान मिला है। अपभ्रंश की शेष सभी प्रबंध कृतियाँ संधियों में विभक्त हैं। वस्तुतः 15 से 38 कडवकों की एक संधि होती है। कुछ छंदों के बाद धत्ता जोड़कर कडवक बनाए जाते हैं। कडवक तो पदों (स्टेन्जाज) के समान होता है।

ख) अपभ्रंश के प्रायः सभी प्रबंध काव्य कडवक योजना के रूप में मिलते हैं। केवल 'णेमिणाह चरिउ', 'सुन्दसंण चरिउ' और 'संदेश रासक' इसके अपवाद हैं। पुष्पदंत के काव्यों में नाना छंदों का प्रयोग हुआ है पर वे कडवक बद्ध हैं। यद्यपि अपभ्रंश का

प्रिय छंद दोहा है, पर प्रबंध काव्यों में अधिकतर पद्धड़िया, अडिल्ल, रड्डा आदि छंदों का प्रयोग हुआ है। इनमें प्रधानता पद्धड़िया की है जो चौपाई से मिलती है। हिंदी में यह पद्धति 'परमाल रासो', 'पद्मावत' तथा 'रामचरित मानस' में बार-बार अपनाई गई है।

ग) अपभ्रंश में मंगलाचरण, काव्य लिखने का कारण, विषयवस्तु की महत्ता, कवि का विनम्रता-प्रदर्शन, पूर्व कवियों की प्रशस्ति, नायक के देश और नगर का वर्णन करने की प्रथा प्रचलित रही है। यह अपभ्रंश काव्यों की निजी विशेषता थी जिसे हिंदी काव्य परंपरा ने भी अपनाया है।

घ) अधिकांश अपभ्रंश काव्यों में कथा का आरंभ दो व्यक्तियों के प्रश्नोत्तर के रूप में हुआ है। कथा शैली के लिए यह पद्धति अनुकूल भी थी। प्राकृत तथा अपभ्रंश के सभी काव्य प्रश्नोत्तर या संवाद रूप में हैं। हिंदी में 'पृथ्वीराज रासो' और 'रामचरित मानस' इसी प्रश्नोत्तर शैली को अपनाते हैं।

बोध प्रश्न

8. निम्नलिखित हिंदी के काव्यों में कौन अपभ्रंश काव्य से बिलकुल भिन्न हैं: (सही उत्तर के सामने (✓) का निशान लगाएँ:

   क) रामकाव्य ( )

   ख) संतकाव्य ( )

   ग) चरित काव्य ( )

   घ) शृंगार काव्य ( )

9. 'संदेश रासक' से मिलती-जुलती, हिंदी की दो रचनाओं का नाम बताएँ:

   क) ....

   ख) ....

10. नीचे दिए गए विकल्पों में से चुनकर रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए:

    हिंदी के रीतिकाव्य की प्रमुख प्रवृत्ति..के बीज..काव्य में मिल जाते हैं।

    (हिंदी, अपभ्रंश, चमत्कार, लौकिकता)

11. अपभ्रंश के कौन-कौन से छंद हिंदी में प्रयुक्त हुए? किंही दो के नाम लिखिए:

    क) ....

    ख) ....

2.6 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप समझ गए होंगे कि हिंदी साहित्य के आरंभ होने से ठीक पहले विशाल अपभ्रंश साहित्य समृद्ध था। जहाँ एक ओर स्वयंभू और पुष्पदंत जैसे जैन कवि अपभ्रंश भाषा में साहित्य की रचना कर रहे थे, वहीं सरहपा और कण्हपा जैसे सिद्ध कवि इस साहित्य की समृद्धि बढ़ा रहे थे। इसके अतिरिक्त धनपाल, रामसिंह, अद्दहमाण आदि इस भाषा को आगे बढ़ाने में प्रमुख भूमिका निभा रहे थे।

अपभ्रंश साहित्य में चरित काव्य लिखे गए, धार्मिक साहित्य रचा गया और श्रृंगार की ललित रचनाएँ भी सामने आईं। इस परंपरा को हिंदी साहित्य ने आगे बढ़ाया। हिंदी के चरित काव्यों में अपभ्रंश के चरित काव्यों की झलक मिलती है। इसी प्रकार, सिद्ध-नाथ कवियों की रचनाएँ संतकाव्य की पूर्वपीठिका का आभास देती हैं। अपभ्रंश के श्रृंगारिक दोहों को हिंदी के रीतिकालीन कवियों ने उत्कर्ष तक पहुँचाया। विषयवस्तु की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि अभिव्यंजना शिल्प की दृष्टि से भी हिंदी साहित्य अपभ्रंश साहित्य का ऋणी है। अपभ्रंश में चौपाई का खूब उपयोग किया गया; हिंदी में भी चौपाई काव्यगत अभिव्यक्ति का माध्यम बनी। अपभ्रंश में गेय काव्य भी लिखे गए, जिसे हिंदी कवियों ने अपनाया। इसके अलावा, अपभ्रंश में प्रमुख कथानक रूढ़ियों को भी हिंदी कवियों ने ग्रहण किया। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अपभ्रंश साहित्य, हिंदी साहित्य की पूर्वपीठिका है।

2.7 शब्दावली

अंतस्साधना : सिद्धों और नाथों द्वारा अपनाई गई साधना की पद्धति, जिसमें हृदय और मन द्वारा ईश्वर को प्राप्त करने की बात की जाती है।

अर्थगौरव : अर्थ की गंभीरता।

आगम : वेद

ऋषभदेव : जैनों के तीर्थंकर।

देशीभाषा : लोकभाषा, जनता द्वारा बोली जाने वाली भाषा।

परिग्रह : स्वीकार करना

प्रच्छन्न प्रवाह : छिपा हुआ प्रवाह

पद्धड़िया : एक प्रकार का छंद

वरासन : उत्तम आसन

रेवा नदी : पुराण कथाओं में मिलने वाली एक नदी।

2.8 उपयोगी पुस्तकें

गुलेरी, चंद्रधर शर्मा, पुरानी हिंदी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

द्विवेदी, हजारीप्रसाद, हिंदी साहित्य का आदिकाल, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।

द्विवेदी, हजारीप्रसाद, हिंदी साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली।

सिंह, नामवर, हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

शुक्ल, रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।

2.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. क) ✓ ख) × ग) ✓ घ) ✓

2. पूर्ववर्ती अपभ्रंश में प्राकृत शब्दों का प्रभाव, परवर्ती अपभ्रंश पर तत्सम शब्दों और देशीभाषा के शब्दों का प्रभाव (देखें 2.2.1 एवं 2.2.2)।

3. क्रमशः प्राकृत, देशीभाषा, प्राकृत, तत्सम, पुरानी हिंदी, अवहट्ठ।

4. क) स्वयंभू

   ख) पुष्पदंत

5.

रचना	रचनाकार
क) स्वयंभू	पउमचरिउ
ख) पुष्पदंत	णायकुमार चरिउ
ग) हरिभद्र सूरि	नेमिनाथ चारिउ
घ) धनपाल	भविसयत्त कहा
ड.) राम सिंह	पाहुड़दोहा

6. 84, सरहपा और कण्हपा, जाति-पाँति का खंडन, सद्‌गुरु की महिमा

7. सिद्ध-हेमचंद्र शब्दानुशासन, संदेश रासक; संदेश रासक (देखें 2.3)

8. रामकाव्य

9. क) ढोला-मारू-रा-दूहा

   ख) बीसलदेव रासो

10. चमत्कार, अपभ्रंश

11. दोहा, चौपाई

इकाई 3 आदिकालीन परिस्थितियों का अध्ययन

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 आदिकाल : अर्थ एवं स्वरूप

- 3.2.1 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
- 3.2.2 काल-सीमा और नामकरण

3.3 परिस्थितियाँ : अर्थ एवं महत्व

3.4 आदिकालीन साहित्य के प्रेरक बिंदु

3.5 आदिकाल की परिस्थितियाँ

- 3.5.1 राजनीतिक परिस्थितियाँ
- 3.5.2 धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियाँ
- 3.5.3 सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ
- 3.5.4 साहित्यिक परिस्थितियाँ

3.6 आदिकालीन साहित्य पर परिस्थितियों का प्रभाव

3.7 सारांश

3.8 शब्दावली

3.9 उपयोगी पुस्तकें

3.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.0 उद्देश्य

हिंदी साहित्य के इतिहास में आदिकालीन साहित्य का परस्पर विरोधी चिंतनधाराओं की वैविध्यमयी अभिव्यक्ति के कारण अपार महत्व है। हिंदी साहित्य के इस श्रीगणेश काल में परिस्थितियों, प्रवृत्तियों, भाषाओं और विचारधाराओं का वैविध्य भी है और समन्वय भी। आदिकालीन परिस्थितियों को गहन एवं विस्तृत विवेचन करने वाली इस इकाई के अध्ययन से आपः

- आदिकाल के अर्थ और स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि बता सकेंगे;
- काल-सीमा तथा नामकरण का विवेचन करते हुए आदिकालीन साहित्य के प्रेरक बिंदुओं को बता सकेंगे;
- परिस्थितियों के अर्थ एवं उनकी भूमिका का महत्व बता सकेंगे;
- आदिकाल की राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों की समीक्षा कर सकेंगे;
- आदिकालीन साहित्यिक परिस्थितियों की व्याख्या कर सकेंगे;
- आदिकालीन साहित्य की सामग्री और उसके स्वरूप को समझा सकेंगे; और
- आदिकालीन साहित्य पर इन विविध परिस्थितियों के प्रभाव को स्पष्ट कर सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

कवि अथवा लेखक साहित्य-सृजन से परिवेश एवं स्थितियों को निर्मित-परिवर्तित तो करता ही है साथ ही सामाजिक वातावरण और वैविध्यमयी परिस्थितियों से प्रभावित भी होता है। समय, संदर्भ, घटना और परिवेश लेखक या साहित्यकार को दिशा-दृष्टि भी देते हैं और उसकी दृष्टि या विचारधारा से प्रभावित होते हुए अपने स्वरूप को परिवर्तित भी करते हैं। समग्र विश्व के साहित्य एवं परिस्थितियों में यह परस्पर प्रभावित होने या करने की प्रवृत्ति सहज ही देखी जा सकती है। हिंदी साहित्य के इतिहास का श्रीगणेश जिस कालधारा से माना जाता है उसे विद्वत-बहुमत के आधार पर 'आदिकाल' नाम से जाना जाता है। इस 'श्रीगणेश काल' अथवा 'आरंभ काल' के समय-सीमा-निर्धारण और नामकरण पर हमने इकाई संख्या–1 में विस्तार से चर्चा की है। इस इकाई में हम आदिकालीन साहित्य के निर्माण में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से सक्रिय रहने वाली महत्वपूर्ण परिस्थितियों का अध्ययन करेंगे।

आदिकाल में साहित्य की शृंगार, भक्ति, वीर तथा ऐतिहासिक, लौकिक, धार्मिक एवं सामाजिक आदि कई प्रवृत्तियाँ एक साथ मिलती हैं। इन सभी प्रवृत्तियों के निर्माण, विकास तथा परिवर्तन-संवर्द्धन में बहुत सी स्थितियों-परिस्थितियों ने तरह-तरह से अपना योगदान दिया है। साहित्य को प्रभावित करते हुए कभी ये परिस्थितियाँ उसकी विकास-दिशा को प्रशस्त करती रही हैं तो कभी साहित्यकार एवं साहित्य के मूल्यवान संदेश से प्रेरणा ग्रहण कर सजती-सँवरती या निखरती रही हैं। इस इकाई में आदिकाल को प्रभावित करने वाली इन्हीं राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों का विश्लेषण किया गया है।

इससे पूर्व की इकाई में आप किसी भी साहित्य या साहित्यधारा के काल-विभाजन तथा नामकरण के आधारों को जान चुके हैं। साथ ही हिंदी साहित्य की पृष्ठभूमि का अध्ययन करते हुए अपभ्रंश-काव्य की गहन विवेचना भी कर चुके हैं। आगे के सभी खंडों में प्रथम खंड के परिप्रेक्ष्य में भक्तिकाल, रीतिकाल तथा आधुनिक काल की विभिन्न विधाओं एवं साहित्यधाराओं का विश्लेषण किया जाएगा। आदिकाल की परिस्थितियों को विश्लेषित करने वाली इस इकाई के अतिरिक्त आप अगली इकाई में आदिकालीन साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का तथा रासोकाव्य का अध्ययन मनन करेंगे। अतः इस इकाई में एक तरह से आगे की इकाई की पृष्ठभूमि भी स्पष्ट हो सकेगी। आप यह जान सकेंगे कि आदिकालीन साहित्य और ऐतिहासिक संदर्भों में क्या तालमेल है तथा परिस्थितियों के बदलाव किस तरह इस युग के साहित्य को अलग-अलग धाराओं या प्रवृत्तियों में ढालते रहे। अपभ्रंश साहित्य की आठवीं से चौदहवीं शताब्दी तक अविरल गति से बहती धारा कैसे आदिकालीन साहित्य की विविध प्रवृत्तियों में घुल-मिल गई तथा परिस्थितियों ने कैसे शृंगार, वीर या भक्ति आदि धाराओं को निर्मित या विकसित किया। रासो काव्यधारा या अन्य लौकिक-ऐतिहासिक और धार्मिक आदि साहित्य ग्रंथों के निर्माण में युगीन परिवेश और परिस्थितियों ने क्या-क्या भूमिका निभाई? ये परिस्थितियाँ साहित्य की उन प्रवृत्तियों में कहाँ-कहाँ और किस रूप में झाँकती दिखाई पड़ती है। इस मूल विषय के अतिरिक्त इकाई में आदिकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, काल-सीमा, नामकरण, आदिकालीन साहित्य के प्रेरक बिंदु तथा आदिकालीन साहित्य की सामग्री के स्वरूप आदि का भी विवेचन किया गया है। तो आइए सर्वप्रथम आदिकाल के अर्थ एवं स्वरूप की समीक्षा करें।

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

3.2 आदिकाल : अर्थ एवं स्वरूप

आदिकाल, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है किसी भी साहित्य धारा का वह प्रारंभिक या पहला काल-खंड जहाँ से उसकी शुरूआत होती है। यों आदिकाल के वास्तविक स्वरूप को जान लेना सहज नहीं है। किंतु भारतीय चिंतन धारा के उस महत्वपूर्ण काल के रूप में इसे जाना जा सकता है जहाँ परस्पर विरोधी तत्वों को एक साथ साहित्य में देखा जाता है। राजनीतिक उथल-पुथल, विदेशी आक्रमण तथा दो-दो संस्कृतियों के मिलन का परिवेश वहाँ है। अशांति और बिखराव से छिन्न-भिन्न सामाजिक स्थिति, विविध धर्म, सम्प्रदाय एवं दर्शनों का फैलता प्रभुत्व भी वहाँ है। जन-सामान्य को आकर्षित-भ्रमित करते टोने-टोटके, तंत्र-मंत्र तथा जादू-चमत्कार और जैन, वैष्णव, शैव, कापालिक, शाक्त, सिद्ध एवं नाथ आदि कई धार्मिक संप्रदायों की बहुत सी प्रवृत्तियाँ भी इस युग के समग्र साहित्य में दिखाई देती हैं जिनमें अंतराल भी है और विरोध भी। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा भी है "शायद ही भारतवर्ष के साहित्य के इतिहास में इतने विरोधों और स्वतोव्याघातों का युग कभी आया होगा। इस काल में एक तरफ तो संस्कृत के ऐसे बड़े-बड़े कवि उत्पन्न हुए, जिनकी रचनाएँ अलंकृत काव्य-परंपरा की चरम-सीमा पर पहुँच गई थीं और दूसरी ओर अपभ्रंश के कवि हुए, जो अत्यंत सहज सरल-भाषा में, अत्यंत संक्षिप्त शब्दों में, अपने मनोभाव प्रकट करते थे। फिर धर्म और दर्शन के क्षेत्र में भी महान् प्रतिभाशाली आचार्यों का उद्‌भव इसी काल में हुआ था और दूसरी ओर निरक्षर संतों के ज्ञान-प्रचार का बीज भी इसी काल में बोया गया।' यों तो हिंदी साहित्य के विकास की शुरूआत भी यहीं से देखी जाती है किंतु साथ ही परवर्ती हिंदी साहित्य की अनेक प्रवृत्तियों, काव्य-शैलियों आदि का उद्‌गम-स्थल भी यहीं माना जाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि हिंदी साहित्य के इस प्रारंभिक काल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि क्या है? उसे आदिकाल क्यों कहा जाता है तथा उसकी काल-सीमा क्या है? आइए, इन प्रश्नों पर संक्षेप में विचार करें।

3.2.1 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

जिन स्थितियों-परिस्थितियों ने हिंदी साहित्य के उस काल का निर्माण किया या कराया जिसे आगे चलकर 'आदिकाल' नाम से जाना गया, उनकी स्थिति अत्यंत चिंतनीय रही है। उस युग का भारत छिन्न-भिन्न हो रही सत्ता का भारत था। हर्षवर्धन का एकछत्र राज्य तब बिखरने लगा था। पूर्व में पालों, दक्षिण में राष्ट्रकूटों तथा पश्चिम में प्रतिहारों की राज्य-शक्ति को सुदृढ़ बनाने के प्रयास भी विफल होते गए। राजपूतों के उदय होते ही तोमर, राठौर, चौहान, गुर्जर, चालुक्य, चंदेल तथा परमार आदि राजवंश राज्य-सत्ता की दौड़ में शामिल होने लगे। परिणामतः केंद्रीय शक्ति का अभाव ही अराजकता का कारण बन गया। परस्पर इन सत्ता-लोलुपों ने लड़ना प्रारंभ कर दिया। राजनीति, युद्ध-लिप्सा से घिर गई।

ऐसे विघटन-भरे वातावरण में भी साहित्य को राज्याश्रय प्राप्त होने लगा। राजाओं ने देश-भाषा के प्रोत्साहन में योगदान दिया। भाषा और साहित्य विकसित होने लगे। आक्रमणों और युद्धों के अंचल में पलने वाला साहित्य भी परिस्थितियों से जूझने लगा। पश्चिम से मुसलमानों के आक्रमण और भीतर राजपूतों के पारस्परिक झगड़े -सब ने परिवेश को युद्ध-उन्माद और शौर्य-गायन से जीवन-निर्वाह की राह दिखाई। दरबारी कवियों ने स्वामियों और आश्रयदाताओं की प्रशस्ति प्रारंभ कर दी। इन्हें ही चारण भी कहा गया। वीर गाथाओं से संबद्ध अधिकांश साहित्य इन्हीं का रचा हुआ है।

अतः आदिकाल की इस युद्ध विघटन एवं सत्ता-मद की स्थितियों ने एक तरफ तो अपने प्रभाव से साहित्य को जकड़ा दूसरी तरफ जैन, बौद्ध तथा सिद्ध-नाथ आदि हिंदी क्षेत्र के

मत, इन राजनीतिक परिस्थितियों से दूर किंतु सामाजिक सांस्कृतिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर सामने आ रहे थे। तंत्र-मंत्र तथा टोने-टोटके धीरे-धीरे जन-जन को भयभीत कर रहे थे। ऐसे में गुर्जर, सम्राट सिद्धराज जयसिंह के जीवन-काल में जैन-साहित्य को प्रोत्साहन मिलने लगा था। प्राकृत-व्याकरण 'सिद्ध हेमचंद्र शब्दानुशासन' के रचयिता हेमचंद्र इन्हीं के दरबारी आश्रित थे। हेमचंद्र ने भी जैन धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए अपना पूरा योगदान दिया। यही कारण है कि इस युग में पर्याप्त जैन प्रबंध-काव्य, पुराण तथा चरित काव्यों की रचना भी होती रही।

सम्राट हर्ष के समय तक तो बौद्ध धर्म राज्य के संरक्षण में फल-फूल ही रहा था किंतु धीरे-धीरे इस पूजा में मूर्ति-पूजा, यक्ष-पूजा तथा तंत्र-मंत्र साधना भी समाहित होने लगी। वज्रयान के रूप में धीरे-धीरे समाहित हो रही यह हठयोग साधना बौद्ध धर्म से जुड़ती चली गई। बौद्ध धर्म के इसी विकृत रूप से धीरे-धीरे सिद्ध-परंपरा उभरी। समन्वयवादी इस देश की संस्कृति का प्रभाव इन मतों, दर्शनों और विचारों पर भी पड़ा। शैव तथा शाक्तों के मत प्रभाव भी इसमें समाहित होते चले गए। यद्यपि सभी विषयों पर इकाई–4 में आप विस्तार से जानेंगे। यहाँ संक्षेप में यही स्पष्ट करना हमारा उद्देश्य रहा है कि इस युग की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि क्या रही जिसमें इस युग के साहित्य का निर्माण हुआ। आगे परिस्थितियों की चर्चा करते हुए इसे और भी स्पष्ट किया जा सकेगा।

3.2.2 काल-सीमा और नामकरण

किसी भी साहित्य या साहित्य-धारा की काल-सीमा का निर्धारण तथा उसके नामकरण के प्रमुख आधारों का अध्ययन आप प्रथम इकाई में विस्तार से कर चुके हैं। वहाँ आपने साहित्य की या साहित्य धारा की प्रथम कृति अथवा प्रथम लेखक की स्थिति एवं महत्ता को भी जाना। किसी साहित्य की शुरूआत कहाँ से मानी जाए? उसका पूर्वापर संबंध क्या है? परवर्ती सीमा से उसे कैसे बाँधा जाए? तथा दो धाराओं के बीच उसे किस रूप में देखा या समझा जाए? ऐसे कई प्रश्न एक साथ उठकर ही साहित्य या साहित्य धारा की काल-सीमा को निर्धारित करते हैं। इसी प्रकार नामकरण के प्रमुख आधारों में प्रवृत्ति की प्रधानता, ग्रंथों की प्रसिद्धि, जाति विशेष के नाम, कवि या लेखक (व्यक्ति विशेष) के नाम, भाषा-विशेष, रचना-शैली, प्राचीनता या अर्वाचीनता, साहित्यिक रचनाओं के स्तर, शासकों या धार्मिक संप्रदायों, राजनीतिक घटनाओं, समय-खंड या गद्य-पद्यात्मकता की प्रधानता जैसे कई आधार स्वीकारे जाते रहे हैं। हिंदी साहित्य के इतिहास में उपलब्ध नामों या काल-खंडों में इन्हें देखा भी जा सकता है। यहाँ हम प्रथम इकाई में की गई इस चर्चा से सीधे अपने विषय पर आते हुए आदिकाल की काल-सीमा तथा नामकरण का संक्षिप्त विश्लेषण करेंगे।

हिंदी साहित्य के इतिहास के संदर्भ में अगर देखें तो आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा विभिन्न विकास चरणों को दिए गए अधिकांश नाम तथा उनकी समय-सीमा यथावत् या कुछ घुमा-फिरा कर स्वीकार कर ली गई है। 'आदिकाल' को शुक्ल जी ने 'वीरगाथा काल' कहते हुए उसकी समय-सीमा 1050 विक्रमी संवत् से 1375 विक्रमी संवत् तक स्वीकारी है। पर साथ ही शुक्ल जी ने यह भी कहा है कि कोई इसे 'आदिकाल' भी कहे तो कह सकता है। वास्तव में शुक्ल जी के समय तक जितना साहित्य उपलब्ध था उस आधार पर उन्होंने उसे 'वीरगाथा काल' कहना उचित समझा। किंतु बाद में सैकड़ों ग्रंथ ऐसे मिल गए जिनमें आध्यात्मिक और धार्मिक के साथ कुछ अन्य प्रकार के विषयों को भी काव्यबद्ध किया गया है। 'वीरगाथा काल' कहने से वे कृतियाँ इसमें समाहित नहीं हो पातीं। उनमें वीरगाथाओं से इतर विषयों पर लिखी सामग्री भी है। अतः इस आधार पर इस काल को 'आदिकाल' कहना ही उचित है।

कुछ विद्वान लोग बौद्ध साहित्य तथा अपभ्रंश साहित्य को ध्यान में रखते हुए 'आदिकाल' की शुरूआत संवत् 700 से या संवत् 943 से भी मानते हैं (यहाँ स्पष्ट रहे कि संवत् ईसवी सन् से 57 वर्ष बड़ा होता है)। किंतु यह भी विवादास्पद है कि वहीं से हिंदी साहित्य का प्रारंभ माना जाए या संवत् 1050 से। इस संदर्भ में कुछ अन्य विद्वानों के सीमा-निर्धारण एवं नामकरण पर भी दृष्टि डालें तो उचित होगा। डॉ. श्याम सुंदर दास ने इस युग को 'आदियुग' मानते हुए इसका समय संवत् 1050 से 1400 तक माना। राहुल सांकृत्यायन ने इसे 'सिद्ध सामंत काल' कहा। डॉ. राम कुमार वर्मा ने इसे 'चारण काल' मानते हुए इसकी काल सीमा संवत् 1000 से 1375 मानी। वर्मा जी चारण काल (संवत् 1000) से पूर्वकाल को शुक्ल जी की तरह ही 'अपभ्रंश काल' कहते हुए उसे 'संधि काल' नाम देते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 1000 से 1400 ईसवीं सन् तक के इस काल-खंड को 'आदिकाल' कहना उचित समझा। डॉ. नगेन्द्र ने 'आदिकाल' नाम को स्वीकारते हुए इसकी काल-सीमा सातवीं शती के मध्य से चौदहवीं शती के मध्य तक स्वीकार की।

इस समग्र विवेचन से यह तो स्पष्ट है कि आदिकालीन साहित्य के लिए नामकरण तो भिन्न-भिन्न प्रस्तावित हुए किंतु समय-सीमा में कोई विशेष अंतर नहीं दिखाई पड़ता। यों कुल मिलाकर विवाद से रहित तथा सर्वाधिक स्वीकृत नाम अगर कोई रहा तो वह 'आदिकाल' ही रहा है। हालाँकि आदिकाल नाम इस काल की संपूर्ण साहित्यिक प्रवृत्तियों तथा लोक-चित्तवृत्तियों को प्रतिबिंबित नहीं करता किंतु उदार दृष्टि से देखने पर यह तो स्पष्ट ही है कि इसमें 'प्रारंभ काल' के नाम पर सभी कुछ समाहित हो जाता है। सभी परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ, विशेषताएँ तथा काव्य धाराएँ इसमें सहज ही समा जाती हैं। शुक्ल जी ने भी इसे 'वीरगाथा काल' कहते हुए यह स्वीकारा कि कोई इसे 'आदिकाल' कहना चाहे तो कह सकता है। यही नहीं 'वीरगाथा काल' कहने से इस युग की शृंगार एवं भक्तिपरक रचनाएँ भी छूट जातीं हैं। 'विद्यापति' जैसा भक्त शृंगारी कवि बाहर हो जाता है। 'अमीर-खुसरो' जैसा लोक-कवि इस काल-सीमा में गौण हो जाता है। यही नहीं 'बीसलदेव रासो' जैसी प्रेम-कृति भी छूट जाती है। इसी प्रकार अन्य नामों के साथ भी कोई न कोई सीमा आ जुड़ती है। अतः समय-सीमा और नामकरण के इस समग्र विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि अधिकांश विद्वत-साहित्य-समाज द्वारा स्वीकृत नाम 'आदिकाल' ही प्रामाणिक एवं समर्थ नाम है तथा सन् 1000 से 1400 ई. के बीच ही इसकी काल-सीमा अधिक मान्य है। किसी साहित्यिक प्रवृत्ति तथा लोक चित्तवृत्ति को प्रतिबिंबित न करके भी यही नाम स्वीकृत किया जा सकता है।

3.3 परिस्थितियाँ : अर्थ एवं महत्व

यह तथ्यात्मक सत्य सर्वमान्य है कि लेखक या साहित्यकार तथा परिस्थितियाँ परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। कहा जाता है कि साहित्य समाज का दर्पण है। अर्थात् समाज में जो भी कुछ है या घट रहा है उससे लेखक भी कहीं न कहीं प्रभावित अवश्य होता है। साहित्यकार जिस समाज में रहता-जीता है उसकी परंपराएँ, घटनाएँ, स्थितियाँ, परिवेश तथा परिवर्तन उसकी मानसिकता पर प्रभाव डालते हैं और इसी से उसका सृजन भी प्रभावित होता है। समाज की अनुभूति ही साहित्य की अभिव्यक्ति बनती है। इसमें कल्पना का मिश्रण अवश्य होता है किंतु वह सदैव वायवीय या आधारहीन नहीं होती। दूसरी तरफ यही स्थिति जनता की भी है। जन-सामान्य भी समाज में घटित घटनाचक्र या व्याप्त स्थितियों -परिस्थितियों से प्रभावित होता है। जन-सामान्य की चित्तवृत्ति या मनोवृत्ति भी देश या परिवेश की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों से परिवर्तित या संवर्द्धित होती रहती है। इसीलिए आचार्य शुक्ल ने साहित्य का संबंध 'जनता

की चित्तवृत्तियों' से जोड़ते हुए कहा है कि जब-जब जनता की चित्तवृत्तियाँ बदलती हैं तब-तब साहित्य का स्वरूप भी बदलने लगता है। अतः परिवेश और परिस्थितियाँ साहित्य को नियंत्रित करने वाली शक्ति के रूप में जानी जाती हैं। इसलिए साहित्य निर्माण में अपनी अप्रतिम तथा महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाली परिस्थितियों की चर्चा सदैव की जाती रही है। स्थितियाँ-परिस्थितियाँ चित्तवृत्तियों को प्रभावित करती हैं और चित्तवृत्तियाँ रुचि, परिप्रेक्ष्य तथा दिशा को निर्धारित करती हैं। यही कारण है कि कवि, लेखक या साहित्यकार परिस्थितियाँ बनाता भी है और परिस्थितियों से प्रभावित भी होता है। इतिहास साक्षी है कि युग पुरुषों या साहित्यकारों का निर्माण भी परिस्थितियों ने किया और उन परिस्थितियों को बदलने का दायित्व भी इन्हीं लोगों ने निभाया। चित्तवृत्तियों का बदलाव ही साहित्यकार की दिशा बदलता है। यही कारण है कि आदिकाल में वीररसपरक वृत्ति प्रधान रही तो भक्ति-काल में भक्ति भावना और रीतिकाल में श्रृंगार प्रधान हो गया। इसकी विस्तृत व्याख्या आगे के खंडों में की जाएगी। अतः कह सकते हैं कि साहित्य एवं स्थितियों का तथा परिवेश एवं प्रस्तुति का प्रगाढ़ संबंध होता है। यह भी कहा जाता है कि महान कवि परिस्थितियों से परिचालित नहीं होते किंतु संभवतः इसे कोरे आदर्श की अभिव्यक्ति ही कहा जा सकता है। परिवर्तित-परिवेश सदैव ही नवीन साहित्य को प्रेरित प्रभावित करता रहा है। यही आदिकालीन साहित्य के साथ हुआ। सन् 1000 से 1400 तक के इस साहित्य की नियामक परिस्थितियाँ क्या और कैसी थीं, इसी की चर्चा अब हम विस्तार से करेंगे। किंतु यहाँ संक्षेप में यह भी जान लेना आवश्यक है कि हिंदी-साहित्य के इस प्रारंभ काल में साहित्य को प्रेरित करने वाले बिंदु कौन से थे? इसके विश्लेषण के बाद हम परिस्थितियों की व्याख्या करेंगे।

3.4 आदिकालीन साहित्य के प्रेरक बिंदु

हिंदी साहित्य के इतिहास में आरंभिक वर्षों के रूप में जिस समय की चर्चा की गई है, उसमें मुख्यतः संस्कृत, अपभ्रंश तथा हिंदी भाषाओं में रचित साहित्य ही मिलता है। इसमें भी संस्कृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में धार्मिक तथा लौकिक साहित्य अधिक मिलता है। हिंदी (देशभाषा) में लिखित साहित्य का स्वरूप हमें 'आदिकाल' में देखने को मिलता है।

इन भाषाओं का परस्पर एक अटूट तथा क्रमबद्ध संबंध भी रहा है। अपभ्रंश भाषा और साहित्य ने हिंदी साहित्य को कई तरह से प्रभावित किया तो संस्कृत भाषा और साहित्य ने अपभ्रंश और हिंदी दोनों को। हिंदी साहित्य की पृष्ठभूमि तैयार करने वाले अपभ्रंश-काल में भी संस्कृत भाषा तथा साहित्य का अत्यंत व्यापक क्षेत्र में लेखन-प्रचलन चल रहा था। अतः विषय-वैविध्य तथा परंपरा बाहुल्य हिंदी को संस्कृत से ही मिला। संस्कृत साहित्य की पूर्ववर्ती-परंपराओं की छाया भी हिंदी-साहित्य के लगभग सभी कालों में यत्र-तत्र देखी जा सकती है। साथ ही अपभ्रंश साहित्य के सिद्ध और जैन साहित्य का प्रभाव भी यहाँ अत्यंत मुखर है। यहाँ एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि इस युग का संस्कृत साहित्य अगर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, नीति, दर्शन, जीवन, काव्यशास्त्र, काव्य संप्रदाय, इतिहास, पुराण, भूगोल, कथा, ज्योतिष, तन्त्र, जीवनी तथा काव्य एवं नाटक आदि अनेक विषय लेकर चिंतन-मनन कर रहा था तो अपभ्रंश साहित्य केवल धार्मिक धाराओं में सिमटा हुआ था। हिंदी साहित्य में आदिकाल से आधुनिक काल तक के पूरे साहित्य को देखने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत की इस व्यापक साहित्यधारा से कवियों, लेखकों और साहित्यकारों ने पर्याप्त ऊर्जा तथा प्रभाव भी ग्रहण किया है।

एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि युगीन परिस्थितियों के कारण संस्कृत साहित्य के विषय-वैविध्य से संपन्न अधिकांश ग्रंथ हिंदी क्षेत्रों में नहीं लिखे गए। हिंदी क्षेत्र तो पश्चिम

दिशा से निरंतर होते रहने वाले आक्रमणों के कारण अधिकांशतः वीर तथा भक्ति साहित्य तक सीमित होकर रह गया। जबकि संस्कृत के महान् ग्रंथों का अधिकांश सृजन कश्मीर, बंगाल, उड़ीसा, मद्रास, महाराष्ट्र तथा गुजरात आदि में अधिक हुआ। अतः स्पष्ट है कि जहाँ अपभ्रंश साहित्य सिद्ध, नाथ और जैन संप्रदायों की संकीर्णता में विभक्त था वहाँ संस्कृत साहित्य किसी भी जाति, धर्म या संप्रदायों से मुक्त और सार्वभौमिक, सार्वकालिक तथा सार्वजनिक बन रहा था। यह भी विचारणीय है कि संस्कृत साहित्य की परंपरा को किसी न किसी रूप में आदिकाल से रीतिकाल तक स्वीकारा जाता रहा जबकि अपभ्रंश साहित्य के साथ ऐसा भी नहीं हुआ। अकबर, रहीम और शाहजहाँ जैसे शासकों ने संस्कृत विद्वानों का भरपूर सम्मान किया। संस्कृत का अंतिम काव्यशास्त्रीय ग्रंथ 'रस गंगाधर' (रचयिता पंडितराज जगन्नाथ) भी शाहजहाँ के आश्रय में लिखा गया। 'पंडितराज' की उपाधि भी शाहजहाँ द्वारा प्रदत्त है। अतः कुल मिलाकर यह काल साहित्य समाज तथा साहित्यकार के बीच सौहार्द का काल रहा। संस्कृत, अपभ्रंश तथा देशी भाषाओं के इस युग में ही हिंदी साहित्य के इतिहास का श्रीगणेश हो रहा था। इसी धारा से आदिकालीन साहित्य की वैविध्यमयी धाराएँ प्रस्फुटित हो रही थीं। यही साहित्यधारा हिंदी के इस प्रारंभिक काल की प्रेरणा बन रही थी। अतः इस प्रेरक पृष्ठभूमि के योगदान को भी विस्मृत नहीं किया जाना चाहिए।

बोध प्रश्न

1) नीचे दिए गए वाक्यों में कुछ सही हैं और कुछ गलत। प्रत्येक के सामने उपयुक्त चिह्न लगाइए।

   i) आदिकाल राजनीतिक उथल-पुथल, विदेशी-आक्रमण, अशांति और बिखराव तथा सांप्रदायिक वैविध्य का युग था। ( )

   ii) महान् प्रतिभाशाली आचार्यों का उद्भव आदिकाल में न हो सका। ( )

   iii) अंतिम हिंदू सम्राट हर्ष के समय तक बौद्ध धर्म में मूर्ति पूजा, यक्ष पूजा तथा तंत्र-मंत्र साधना भी समाहित होने लगी थी। ( )

   iv) आदिकालीन जैन साहित्य में प्रबंध-काव्य तथा चरित काव्यों का सृजन न हो सका। ( )

   v) इस युग की कविता में दरबारी आश्रयदाताओं की प्रशस्ति और उनके शौर्य-गान को महत्व नहीं दिया गया। ( )

2) निम्नलिखित प्रश्नों के पाँच-पाँच पंक्तियों में उत्तर लिखिए:

   i) आदिकालीन साहित्य के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को स्पष्ट कीजिए।

   ....

   ....

   ....

   ....

   ....

ii) 'आदिकाल' नामकरण की सार्थकता सिद्ध कीजिए।

....

....

....

....

....

iii) परिस्थितियों का अर्थ और महत्व क्या है? स्पष्ट कीजिए।

....

....

....

....

....

3) आदिकालीन साहित्य के प्रेरक-बिंदु क्या थे? लगभग सात-आठ पंक्तियों में बताइए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

3.5 आदिकाल की परिस्थितियाँ

साहित्य का मूल उत्स जीवन है और विभिन्न प्रकार की सामयिक स्थितियाँ-परिस्थितियाँ तथा परिवेश के घटनाचक्र मिलकर जीवन के सद्-असद् रूपों का सृजन करते हैं। इसीलिए कहा जाता है कि साहित्य अगर लोक-चेतना का संवाहक है तो लोक-चेतना युग-विशेष की राजनीति, धर्म, दर्शन, संस्कृति तथा वैचारिक पृष्ठभूमि से प्रभावित होती है। यही परिस्थितियाँ सर्जक कलाकार को साहित्य-रचना में प्रवृत्त करती हैं। साहित्य और साहित्यकार के शाश्वत मानव मूल्य इन्हीं परिस्थितियों से परिवर्तित, संवर्द्धित या प्रभावित होते रहते हैं। इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखते हुए अब हम आदिकाल की राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों का विवेचन करेंगे। इन्हीं परिस्थितियों के विवेचन के आधार पर आप अगली इकाई में विवेचित आदिकाल की प्रमुख, प्रवृत्तियों एवं विशेषताओं को व्याख्यायित कर सकेंगे। आप बता सकेंगे कि कैसे इन परिस्थितियों ने युगीन साहित्य को प्रभावित या नियंत्रित किया।

3.5.1 राजनीतिक परिस्थितियाँ

ऐतिहासिक दृष्टि से हिंदी साहित्य का यह प्रारंभिक काल भारतीय राजनीतिक जीवन के विश्रृंखल होने का काल है। सातवीं-आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक के राजनीतिक घटना-चक्र ने हिंदी साहित्य को भाषा और भाव दोनों ही दृष्टियों से प्रभावित किया। राजनीतिक असंतुलन, विघटन तथा अव्यवस्था के इस युग की शुरूआत तब होती है जब भारत का सशक्त सम्राट हर्षवर्धन सिंहासन पर बैठा था। सन् 606 ई. में सिंहासन सम्हालने वाले इस शासक ने कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया था। वास्तव में सम्राट हर्षवर्धन के समय में ही भारत के दो भाग हो गए थे। नर्मदा के उत्तर में हर्षवर्धन का साम्राज्य था तो दक्षिण में चालुक्य वंशीय पुलकेशिन द्वितीय का शासन था। ये दोनों ही साम्राज्य विस्तार की असफल चेष्टा भी समय-समय पर करते रहे हैं। 647 ई. में उत्तर के सम्राट हर्षवर्धन की जब मृत्यु हो गई तो उनके वंशजों ने काफी समय तक कन्नौज पर शासन किया। किंतु बाद में पूर्व के पाल, दक्षिण के राष्ट्रकूट और पश्चिम के प्रतिहारों आदि के आक्रमण ने उनकी शक्ति को क्षीण कर दिया। परिणामतः नवीं शताब्दी में प्रतिहारों ने कन्नौज पर अधिकार कर लिया। फिर लगभग दो सौ वर्षों तक भारत की केंद्रीय शक्ति उन्हीं के हाथों में रही। हर्ष के समय का विप्लव और विद्रोह से रहित राज्य, धर्म और सामाजिक व्यवस्था का राज्य अब छिन्न-भिन्न हो गया। अनेक छोटे-छोटे राजवंश जिनमें गुर्जर, तोमर, राठौर, चौहान, चालुक्य, चंदेल, परमार तथा गहरवार आदि थे, सत्ता के लिए प्रयत्नशील होते चले गए। इन राजवंशों के पारस्परिक युद्ध, दिन-रात का कलह तथा बढ़ते हुए विघटन से सामन्तवादी प्रथा को प्रोत्साहन मिला। निरंकुश एकतंत्र शासन प्रणाली के स्थापित होने से राजनीतिक चेतना और विदेशी आक्रमणकारियों से मुकाबला करने की शक्ति भी नष्ट होती चली गई।

अब देश अनेक राज्यों में बँट गया। संगठन बिखरता चला गया। सामंतों के क्षुद्र-स्वार्थ और उनके पाशविक आतंक से जनता की दृष्टि अपनी सुरक्षा तथा जीविका तक ही सीमित होती चली गई। यही कारण है कि युग की चेतना और साहित्य के संदेश में राष्ट्रीयता तथा देश-भक्ति की भावना का अभाव स्पष्टतः देखा जा सकता है। प्रांतीयता और स्थानीयता की प्रबल भावना से विदेशी आक्रमणकारियों का शासन दीर्घ होता चला गया। राजभक्ति प्रमुख होने लगी। परिणामतः राजभक्ति का, शौर्य गान का, प्रशस्ति तथा अनुचित कार्यों के समर्थन का, प्रचलन बढ़ता गया।

हिंदी साहित्य के आदिकाल का विकास भी इसी परिवेश तथा पृष्ठभूमि में हो रहा था। युद्धों के इस वातावरण में दसवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक हिंदुओं की सत्ता समाप्त होने और मुसलमानों के सत्ता में आने की यात्रा को सहज ही देखा जा सकता है। हिंदू शासकों की आपसी लड़ाइयाँ, तुर्कों-अफ़गानों के आक्रमणों का सामना, एकता का अभाव और राज्यों का बिखराव, मान-अपमान के प्रश्न बने युद्ध तथा ज़र-ज़ोरू और ज़मीन या किसी सुंदरी राजकुमारी के स्वयंवर को लेकर हो रहे युद्ध-सभी ने इस देश को खोखला और जर्जर बना दिया था।

सन् 800 ई. से 1026 ई. तक के पाल शासकों में भीम, जयपाल, आनंदपाल आदि ने गज़नी के तुर्कों का सामना किया तो कश्मीर के ललितादित्य, जयादित्य आदि शासकों को भी मुस्लिम शासकों से लोहा लेना पड़ा। वास्तव में वीरता, शौर्य, आत्मबल और देश के हित में प्राणोत्सर्ग करने के व्यक्तिगत उदाहरण तो इस युग में भी कई मिल जाते हैं किंतु संगठन या संघ-शक्ति के अभाव से इनके प्रभावी परिणाम दिखाई नहीं पड़ते। संगठन के रूप में भी सिंध के चच वंश, प्रतिहार वंश, काबुल और पंजाब के शाही वंश, चौहान और कन्नौज वंश आदि ने समय-समय पर आक्रांताओं की बढ़ती हुई सेनाओं का सफलतापूर्वक

सामना किया किंतु अधिकांशतः आपसी फूट और कलह तथा विलासिता के कारण भारतीय शक्ति ध्वस्त होती रही। ऐसे में इस्लाम ने भारत को समानता का मंत्र देकर दलितों को ऊपर उठने का संकल्प दिया। रूढ़ियों और परंपराओं की जड़ें हिलने लगीं। इस्लाम के आगमन से लालसा जगी और आशा संचरित होने लगी। क्षुद्रता, अहंकार, संकीर्णता, मिथ्याचार तथा बाह्याडंबरों में डूबा भारत, विक्रमादित्य तथा चंद्रगुप्त के आदर्शों से विचलित होता भारत,आक्रांताओं की बढ़ती शक्ति के आगे नतमस्तक होता गया। भारतीय समाज में क़ायरों और भीरुओं की संख्या बढ़ने लगी। जनसंपर्क के अभाव तथा दोषपूर्ण राजनीति से देश अपनी चेतना खो बैठा।

दसवीं शताब्दी के महमूद गज़नवी ने सन् 1000 से 1026 के बीच भारत पर सत्रह बार आक्रमण किया और यहाँ की अपार संपत्ति लूटकर ले गया। उसने पंजाब, कांगड़ा, कन्नौज, ग्वालियर ही नहीं सोमनाथ के मंदिर पर भी आक्रमण किया। महमूद गज़नवी की मृत्यु के बाद 1173 में मुहम्मद गोरी ने शासन सम्हाला। उन दिनों भारत में अनेक शक्तिशाली राजपूत-राज्य भी थे। सन् 1170 ई. में कन्नौज की गद्दी पर जयचंद आसीन हुआ। इस समय दिल्ली-अजमेर के शासक चौहानवंशी पृथ्वीराज थे। दुर्भाग्य कि इन दोनों में भी परस्पर बैर-भाव था। मुहम्मद गोरी अपने आक्रमण से समय जयचंद के सहयोग से ही पृथ्वीराज को पकड़ने में समर्थ हो सका था। हालाँकि बाद में उसने जयचंद को भी पराजित कर दिया। मुहम्मद गोरी की मृत्यु के बाद कुतुबुद्दीन ऐबक ने भारत पर राज्य किया। उसने पूरे हिंदी भाषी प्रदेश पर राज्य किया। इस प्रदेश में कन्नौज, काशी, अवध तथा पश्चिमी और उत्तरी बिहार आदि शामिल थे। तदोपरांत भारत पर गुलाम वंश और खिलज़ी वंश के शासकों ने आधिपत्य जमाया। आदिकाल की काल-सीमा में शासन करने वाले तुर्क-अफ़गानी शासक थे। इसीलिए आदिकालीन अधिकांश साहित्य में हिंदू शासकों के या तो पारस्परिक युद्ध वर्णित हैं और या तुर्कों-अफ़गानों से हुए युद्ध वर्णन वहाँ उपलब्ध हैं। अव्यवस्था, लूट-मार तथा बिखराव के इस युग में कवियों ने दरबारी आश्रय भी ग्रहण किया था और उनकी प्रशस्ति तथा शौर्य के गान भी लिखे थे। ऐसे परिवेश और राजनीतिक स्थिति में जन्मे आदिकालीन साहित्य की प्रमुख प्रवृत्ति इसी कारण वीर और शृंगार बनी। यों इस युग में नीति, भक्ति या धर्म और लोक को भी साहित्य में अपनाया गया परंतु प्रधानता युद्ध वर्णनों और शौर्य गानों की रही। इसकी विस्तृत चर्चा हम आगामी इकाई में करेंगे। यहाँ केवल इतना ही स्पष्ट करना अभीष्ट है कि राजनीतिक अवस्था की दृष्टि से उस युग का भारत, कलह और विघटन के कारण एक विदेशी सभ्यता तथा संस्कृति के संपर्क में आ रहा था। मुस्लिम शासकों के दरबार में हिंदू कवि थे तो हिंदू शासकों के दरबार में मुस्लिम विद्वान भी थे। परस्पर सांस्कृतिक आदान-प्रदान भी था। पर फिर भी भारत ने राजनीतिक पराजय के बावजूद अपनी सांस्कृतिक पहचान खोने नहीं दी। आत्म-रक्षा के लिए किए गए संघर्ष का परिणाम हमें पूर्व मध्य युग की कविता में भी देखने को मिलता है।

अतः राजपूतों के उदय तथा उनके अद्‌भुत शौर्य भरे युद्ध-कारनामे अगर युगीन साहित्य में समाहित हुए तो पराजित हिंदुओं के अहिंसक विश्वास को जैन-बौद्ध धर्म से संबद्ध साहित्य ने उजागर किया। चंदबरदाई, विद्यापति, अमीर खुसरो तथा अन्य कवियों के साहित्य में इसे सहज ही देखा जा सकता है।

3.5.2 धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियाँ

हिंदी साहित्य का आदिकाल धर्म एवं संस्कृति की दृष्टि से भी उथल-पुथल, लेन-देन एवं परस्पर प्रभावित करने-होने का काल था। ईसा की 8वीं शताब्दी से 12वीं शताब्दी तक तो भारतीय संस्कृति के मूलभूत सिद्धांत लगभग अपरिवर्तित ही रहे किंतु उनका बाह्य आकार

काफी कुछ बदल चुका था। धर्म भारतीय संस्कृति का एक अपरिहार्य अंग है इसलिए इस युग में यह परिवर्तन धर्म के क्षेत्र में भी हुआ। धर्म की दृष्टि से तो इसे अराजकता का युग भी कहा जा सकता है। यहाँ हम आदिकाल की धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों पर अलग-अलग विचार करेंगे।

धार्मिक परिस्थितियाँ

सातवीं शताब्दी अर्थात् सम्राट हर्षवर्धन के समय में ब्राह्मण और बौद्ध धर्मों का समान आदर था। यद्यपि हर्ष बौद्ध मतावलंबी था और उसके समय में बौद्ध धर्म का पर्याप्त प्रचार-प्रसार भी था, तो भी उसमें एक प्रकार की उदारता और धार्मिक सहिष्णुता थी। फलतः उसके समय में विभिन्न धर्मों में आपसी मेल-जोल था। इन धर्मों ने आपस में काफी आदान-प्रदान करते हुए समन्वय का उदाहरण भी प्रस्तुत किया। किंतु राजनीति की तरह हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद धार्मिक स्थिति भी बदली। किसी केंद्रीय सत्ता के अभाव में जब देश खंड राज्यों में विभक्त हो गया तो धीरे-धीरे धर्म के क्षेत्र में भी अराजकता फैल गई। वेद-शास्त्रों के विधि-विधान और कर्म-कांड को लेकर चलने वाले ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म में भी संघर्ष होने लगे।

विभिन्न धार्मिक संप्रदाय अपने पवित्र रूप को सुरक्षित न रख पाए तो विकृत होकर नए-नए रूपों में जनता के सामने आने लगे। परिणामतः आम आदमी धर्म के वास्तविक स्वरूप को पहचानने में असमर्थ था। उदाहरण के रूप में बौद्ध धर्म अपने वास्तविक आदर्श को भुलाकर जादू-टोने और तंत्र-मंत्र में विश्वास करने लगा था।

आम जनता सिद्धियों की भूल-भुलैया द्वारा दिग्भ्रमित हो रही थी। बौद्ध धर्म का विकास हीनयान, वज्रयान, मंत्रयान, सहजयान आदि अनेक शाखाओं में होने लगा था। बौद्ध धर्म की इन शाखाओं में तंत्र, मंत्र, हठयोग आदि के साथ पंच मकारों (मांस, मैथुन, मत्स्य, मद्य तथा मुद्रा) को भी विशेष स्थान प्राप्त होता जा रहा था। इनके बिना साधना अधूरी मानी जाती थी। स्पष्ट है कि अपने इस रूप में यह मत विकारों को प्रश्रय देने लगा था तथा वाममार्गी हो गया था। तंत्र-मंत्र, जादू-टोने तथा भोग-विलास को लेकर चलने वाले ये वाममार्गी ही बौद्ध-सिद्ध कहलाए तथा दूसरी तरफ धर्म-नियम, संयम और हठयोग के द्वारा साधना के कठिन मार्ग पर बढ़ने वाले नाथ, सिद्ध के रूप में जाने गए। पर अपने मूल रूप में ये दोनों ही बौद्ध थे जो धीरे-धीरे बौद्ध धर्म के विकृत या परिवर्तित रूप में ढलते चले गए।

दरअसल इस युग का धर्म-वैविध्य ही उसे संप्रदायों की दलदल की ओर ले जा रहा था। एक दूसरे को नीचा दिखाने की प्रवृत्ति में लीन इन धर्मों के संदर्भ में डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय लिखते हैं — "इस काल के हिंदी प्रदेश और उसकी सीमाओं के आसपास जैन धर्म, बौद्ध धर्म के वज्रयानी रूप, तांत्रिक मत, रसेश्वर-साधना, उमा-महेश्वर-योग-साधना, सोम-सिद्धांत, वामाचार, सिद्ध और नाथ-पंथ, शैव मत, वैष्णव मत, शाक्त मत आदि विभिन्न मत प्रचलित थे। जैन, वैष्णव, शैव, शाक्त आदि संप्रदायों की प्रतिद्वंद्विता राष्ट्रीय शक्ति का ह्रास कर रही थी। भीतरी विद्वेष से जर्जर देश में इतिहास से टकराने वाला संकल्प न रह गया। दुर्भाग्यवश ये धर्म मनुष्य की सामाजिक और राजनीतिक मुक्ति के साधन बनने के स्थान पर विच्छेद-भाव उत्पन्न करने के साधन बने।"

बौद्धों के समान ही इस काल की धार्मिक पृष्ठभूमि के निर्माण में जैन धर्म का भी हाथ है। इस युग में जैन धर्म भी एक नए रूप में ढल रहा था। एक ओर तो बौद्धों की तांत्रिक-पद्धति जैन धर्म में प्रचलित हो रही थी और दूसरी ओर जैन मतावलंबी साहित्यकार अपनी

रचनाओं में पौराणिक कथाओं का कुछ परिवर्तित रूप में समावेश कर रहे थे। इन रचनाओं में राम, कृष्ण आदि पौराणिक पात्रों को भी जैन धर्म में दीक्षित होते दिखाया जा रहा था।

इस काल की धार्मिक स्थिति का अध्ययन करते समय यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि इस समय के विभिन्न शासक न केवल अलग-अलग धर्मों के मानने वाले थे, वरन् वे उन धर्मों के प्रचार-प्रसार में भी सहायक थे। उदाहरण के लिए पश्चिम-बंगाल के पालवंशी गौड़ शासक बौद्ध थे, अतः उन्होंने सहजयानी बौद्धों को संरक्षण एवं प्रोत्साहन दिया। इसके विपरीत, पूर्वी बंगाल के सेन शासक वैदिक धर्मावलंबी थे, अतः उन्होंने ब्राहमण धर्म को प्रश्रय दिया। इसी प्रकार गुजरात के शासक सिद्धराज जयसिंह और कुमार पाल ने जैन धर्म को प्रोत्साहन दिया।

इस काल में वैदिक, बौद्ध एवं जैन धर्म साथ-साथ प्रचलित थे और वैदिक धर्म का कभी-कभी बौद्ध या जैन धर्म से संघर्ष भी हो जाता था, पर धीरे-धीरे वैदिक या ब्राह्मण धर्म बल पकड़ता गया तथा बौद्ध एवं जैन धर्म कमजोर पड़ते गए। इसका प्रमुख कारण यह है कि युद्धों के उस काल में अहिंसा पर आधारित बौद्ध-जैन धर्म राजाओं की मनोवृत्ति के अनुकूल नहीं हो सकते थे, इसलिए शैव मत का प्रभाव भी बढ़ता गया।

पूर्वी बंगाल के सेन शासक वैदिक मत को मानने वाले थे। उन्हीं के समान मालवा के शासक भी वैदिक मतानुयायी थे। मध्य प्रदेश में गहरवार स्मार्त थे तथा कलचुरि वंश शैव मत का समर्थक था। वैदिक, स्मार्त, शैव आदि ब्राह्मण धर्म के ही विभिन्न रूप हैं। अन्य अनेक राजपूत राजा भी किसी-न-किसी रूप में ब्राह्मण धर्म को ही मानते थे। यहाँ यह भी स्पष्ट रहना चाहिए कि भारत में इस्लाम धर्म का प्रवेश तुर्कों-अफ़गानों के माध्यम से ही हुआ। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से, इस काल में दक्षिण में वैष्णव भक्ति का विकास तो हुआ, पर उसका विशेष प्रभाव उत्तर भारत पर इस समय न पड़ सका। रामानुज, निंबार्क आदि वैष्णव आचार्यों का प्रभाव हिंदी साहित्य के भक्तिकाल पर स्पष्टतः देखा जा सकता है।

अतः इस युग में अनेक प्रकार के धार्मिक मत-मतांतर, तंत्र-मंत्र, टोने-टोटके, प्रतिद्वंद्वी धार्मिक दल, इस्लाम की बढ़ती शक्ति, ब्राहमण-विरोध, वेद-विरोध, वैदिक और बौद्ध धर्मावलंबियों के संघर्ष तथा सांप्रदायिक विद्वेष आदि कई स्वरूप एक साथ देखने को मिलते हैं। धर्म का वास्तविक स्वरूप किसी के सामने स्पष्ट न था और न ही उसे स्पष्ट करने वाला कोई सद्‌गुरु उपलब्ध था। सभी अपने-अपने मत-प्रचार में डूबे थे। इन विषम धार्मिक-स्थितियों ने साहित्य को भी प्रभावित किया। इनके कर्मकांड और आडंबर यहाँ भी प्रवेश कर गए। मिथ्या-विश्वास साहित्य में घर करने लगे। धर्म के इस स्वरूप का प्रभाव भी आदिकाल के अधिकांश साहित्य पर सहज ही देखा जा सकता है।

सांस्कृतिक परिस्थितियाँ

सम्राट हर्षवर्धन के समय तक भारत सांस्कृतिक दृष्टि से ही नहीं राष्ट्रीय दृष्टि से भी संपन्न तथा संगठित था। उस समय की सांस्कृतिक उन्नति एवं उत्कर्ष को संगीत, चित्र, मूर्ति तथा स्थापत्य आदि कलाओं में प्रस्तुत भावों द्वारा भी आँका जा सकता है। जातीय एवं राष्ट्रीय गौरव का यह भाव कई स्थानों पर देखने को मिलता है।

भारत, संसार के अत्यधिक सभ्य एवं सुसंस्कृत देशों में गिना जाता था तथा यहाँ की कलाएँ पर्याप्त विकसित एवं उन्नत मानी जाती थीं। यहाँ के लोगों का जीवन धर्म-भावना से ओतप्रोत, पवित्र एवं सुसंस्कृत था। इसकी झलक तत्कालीन स्थापत्य, मूर्ति एवं संगीत कला में भी दिखलाई पड़ती है। भुवनेश्वर, खजुराहो, पुरी, सोमनाथ, बेलोर, कांची, तंजोर आदि के मंदिर इसी कथन का प्रमाण हैं।

डॉ. नगेन्द्र द्वारा संपादित हिंदी साहित्य के इतिहास में आदिकाल को दो संस्कृतियों के संक्रमण एवं ह्रास-विकास की गाथा कहा गया है। हिंदी साहित्य के आदिकाल की अवधि में भारतीय संस्कृति अपने उत्कर्ष के चरम पर थी। उन्होंने लिखा है कि "भारत में मुस्लिम संस्कृति के समय यहाँ की विभिन्न जातियों, मतों, आधार-विचारों आदि में दीर्घ काल से चली आती हुई समन्वय की एक व्यापक प्रक्रिया पूर्णता को पहुँच रही थी। हर्षवर्धन के विशाल साम्राज्य ने हिन्दू धर्म और संस्कृति को राष्ट्रव्यापी एकता का आधार दिया था।"

स्पष्ट है कि ईसा की 11वीं सदी में मुसलमानों के आक्रमणों और उनके बढ़ते प्रभाव के फलस्वरूप इस्लाम संस्कृति का प्रवेश जब इस देश में हुआ तो उससे दोनों संस्कृतियों (हिंदू एवं इस्लाम संस्कृति) का एक दूसरे से प्रभावित होना सहज-स्वाभाविक था। प्रारंभ में ये दोनों संस्कृतियाँ एक-दूसरे के सामने प्रतिद्वंद्वी के रूप में तन कर खड़ी होती हैं, पर जैसे-जैसे सत्ता में मुगलों का प्रभाव बढ़ता गया वैसे-वैसे इस्लामी संस्कृति की छाप हिंदू संस्कृति पर पड़ती गई। तत्कालीन जन-जीवन तथा विभिन्न कलाओं पर यह छाप स्पष्ट रूप में देखी जा सकती है।

मूर्ति कला के संदर्भ में अगर देखें तो इस्लाम मूर्तिपूजा का विरोधी रहा है, अतः मुसलमानों के शासन में इस कला का ह्रास हुआ। महमूद गज़नवी एवं मुहम्मद गोरी ने अपने आक्रमणों के दौरान सिर्फ लूटपाट ही नहीं की, मंदिरों में स्थित अनेक मूर्तियों को भी तोड़ा-फोड़ा। महमूद भारत के अनेक शिल्पकारों को अपने साथ गज़नी ले गया, फलतः वहाँ के स्थापत्य पर इस काल के भारतीय शिल्प का प्रभाव भी लक्षित किया जा सकता है। कहने का आशय इतना ही है कि आदिकाल में संस्कृतियों का संक्रमण दिखाई देता है। हिंदू संस्कृति मुस्लिम संस्कृति से तथा मुस्लिम संस्कृति हिंदू संस्कृति से किसी-न-किसी रूप में प्रभाव ग्रहण करती है। यों भारत में नाना देवी-देवताओं की पूजा प्रचलित थी, जिन में शिव और शक्ति का महत्व बढ़ रहा था।

3.5.3 सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ

देश की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति पर राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ रहा था। इन्हीं स्थितियों का परिणाम था कि समाज विभिन्न वर्णों तथा जातियों में पूरी तरह बँटा हुआ था। संगठित सामाजिक व्यवस्था की आशा भी शेष न थी। धार्मिक अराजकता ने सामाजिक जीवन को आडंबरयुक्त बना दिया था। ब्राह्मणों की श्रेष्ठता धीरे-धीरे कम होने लगी । राजपूत और क्षत्रियों का प्रभाव समाज में बढ़ रहा था। उनकी शक्ति और शौर्य के चर्चे चारों तरफ थे। किंतु दुर्भाग्य यह था कि वे राष्ट्र और समाज के हित को भूलकर आपसी फूट और झगड़ों में डूबे थे। वैयक्तिक स्पर्द्धाओं से उन्हें फुरसत नहीं थी। हालाँकि इस युग में भी बीसलदेव व राणा सांगा जैसे राष्ट्रीय भावना वाले क्षत्रिय थे किंतु अधिकांश लोगों में इस भावना का अभाव था। जाति-पाँति, ऊँच-नीच, गोत्र तथा वर्ण आदि के भाव ही प्रबल थे।

सामाजिक रीति-रिवाज और विधि-विधानों का कट्टर-प्रचलन सामाजिक संगठन को छिन्न-भिन्न कर रहा था। जनता शासन और धर्म दोनों ओर से निराश्रित होती जा रही थी। युद्धों में उन्हें बुरी तरह पीसा जा रहा था। ईश्वर का स्वरूप भी भ्रमित था। उच्च वर्ग और वर्ण के लोग भोग कर रहे थे तथा निर्धन व निम्न वर्ग के लोग पिस रहे थे। नारी भोग्या और स्वयंवरों की शोभा बनती जा रही थी। शिक्षा की व्यवस्था के अभाव में सांप्रदायिक तनाव, सतीप्रथा तथा अंधविश्वास जैसे अभिशाप मनुष्य को भ्रमित कर रहे थे।

साधु-संन्यासियों के शाप और वरदानों के बीच जन सामान्य आतंकित था। निर्धनता और महामारियाँ सामाजिक जीवन को विषम बना रही थीं। आदिकाल के कवियों ने ऐसे परिवेश और वातावरण में काव्य-रचना की सामग्री जुटाई। समाज में घटित घटनाएँ साहित्य में जनता की रुचि के अनुकूल ही प्रतिबिंबित होने लगीं।

अतः जीवन के स्वाभाविक एवं आनंदमय रूप का ह्रास इस युग में हो रहा था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक वर्णों में विभाजित भारत सामाजिक आदर्श खो बैठा था। समाज की संकीर्णता अनके प्रतिबंधों में अभिव्यक्ति पाने लगी थी। उस युग की विविध कलाओं से भी समाज के स्वरूप का प्रामाणिक परिचय मिलता है। डॉ. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने इस ओर संकेत करते हुए कहा भी है "इस काल के समाज में विभिन्न वर्गों के विविध प्रकार के उत्सव और वस्त्राभूषणों के प्रति प्रेम प्रचलित था। आखेट, मल्ल-युद्ध, घुड़सवारी, द्यूत-क्रीड़ा, संगीत, नृत्य आदि मनोरंजन के साधन थे और कवियों का विशेष आदर था। भोजन और वस्त्रों की सफाई का ध्यान रखा जाता था। क्षत्रियों में मदिरा-पान, भांग और अफीम खाने का रिवाज था। शाक्तों और शैवों को छोड़कर शेष लोग खान-पान में सात्विकता बरतते थे। .... भारतवर्ष में कला और धर्म का वैसे भी घनिष्ठ संबंध रहा है। जैन मत में गिरिनार, सोमनाथ और आबू के जैन, वैष्णव तथा शाक्तों के खजुराहो, भुवनेश्वर, कोणार्क और पुरी के मंदिरों की अद्‌भुत कला के माध्यम द्वारा तत्कालीन जीवन की विविधतापूर्ण प्रेरणाएँ स्पष्ट हो जाती हैं।"

इसी प्रकार आर्थिक स्थिति के उतार-चढ़ाव का अनुमान भी युगीन युद्धों से लगाया जा सकता है। विदेशी आक्रमणकारियों का एक प्रमुख उद्‌देश्य यह भी था कि भारत की संपत्ति को क्षति पहुँचाकर यहाँ का धन, सोना-चाँदी तथा हीरे -जवाहरात आदि लूट कर ले जाना। सोने की चिड़िया कहलाने वाला भारत इनकी आँखों में खटकता था इसीलिए उन्होंने इसे लूट-लूट कर स्वर्णविहीन करने का बीड़ा उठाया। यही नहीं समय-समय पर तुर्क–अफ़गान-आक्रमणकारियों ने हमारे देश में आकर तैयार खड़ी फसलों को रौंदा और जलाया भी। नगरों, गाँवों, मंदिरों तथा संग्रहालयों को तोड़-फोड़ कर लूटा भी।

स्वाभाविक है कि रोज-रोज के युद्धों-आक्रमणों का दुष्प्रभाव अर्थ-व्यवस्था तथा सामाजिक-व्यवस्था पर काफी पड़ रहा था। जनता निर्धनता और लूट-मार से आक्रांत एवं त्रस्त हो चुकी थी। मनुष्य के लिए जीवन-यापन के साधन जुटाना भी दुर्लभ हो गया था। साहूकार तथा सामंत निर्धन जन-सामान्य को ऋणों तथा करों के जंजाल में उलझाते जा रहे थे। दूसरी तरफ अंधविश्वास, अपनी सीमा के बाहर जाकर निर्वाह किए जाने वाले रीति-रिवाज़ तथा तरह-तरह के विधि-विधान मनुष्य को खोखला कर रहे थे। शासक-वर्ग भोग-विलास में पैसा बहाता था और निर्धन को अधिक सताता था। युद्धों पर अपार धन-राशि लुटाना उन्हें मंजूर था पर सामाजिक-कल्याण और आर्थिक उद्धार के लिए वे पूर्णतः निष्क्रिय थे।

अतः स्पष्ट है कि यह युग, धर्म और संस्कृति की तरह सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से भी अराजकता का ही युग था। जमींदार, सेनानायक, शासक, भूस्वामी तथा राज्याधिकारियों के आधिपत्य का यह काल साहित्य में भी मुखर हुआ। भक्ति से शृंगार का मिश्रण, धर्म से अंधविश्वास और कुरीतियों का मिश्रण, जाति-पाँति और जादू-टोनों तथा तंत्र-मंत्रों का मिश्रण, लूटमार और निर्धनता का मिश्रण, पूजा-पाठ और मानसिक अशांति का मिश्रण-सब के सब इसी तथ्य के साक्षी हैं। इन सभी को आदिकालीन साहित्य में सहज ही देखा जा सकता है।

3.5.4 साहित्यिक परिस्थितियाँ

आदिकालीन हिंदी साहित्य के प्रेरणा-स्रोतों की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट किया जा चुका है कि उस समय परंपरागत संस्कृत साहित्य की धारा, प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य की धारा तथा हिंदी-भाषा-साहित्य की धारा–ये तीन धाराएँ प्रचलन में थीं। इस दृष्टि से आदिकालीन साहित्यिक परिस्थितियों में साहित्य और भाषा के स्वरूप तथा स्थिति का विवेचन आवश्यक हो जाता है। जहाँ तक प्रश्न है साहित्य का, नौवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक कन्नौज और कश्मीर, संस्कृत साहित्य के मुख्य केंद्र रहे हैं। इस अवधि में संस्कृत साहित्य धारा के आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त, कुंतक, क्षेमेन्द्र, भोजदेव, मम्मट, राजशेखर तथा विश्वनाथ जैसे काव्यशात्रीय आचार्य, शंकर, कुमारिलभट्ट, भास्कर एवं रामानुज जैसे दार्शनिक मनीषी तथा भवभूति, श्रीहर्ष और जयदेव जैसे कवि-नाटककार एक साथ देखने को मिलते हैं।

दूसरी तरफ प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के साहित्य पर दृष्टि डालें तो वहाँ भी उत्कृष्ट साहित्य की कमी नहीं जान पड़ती। जैन आचार्यों ने मध्य प्रदेश के पश्चिमी सीमांत क्षेत्र में रहकर संस्कृत के पुराणों को नए रूप में प्रस्तुत किया तो पूर्वी सीमांत पर सिद्धों ने उत्कृष्ट ग्रंथों का सृजन किया। स्वयंभू, पुष्पदंत तथा धनपाल जैसे जैन कवि अपनी रचनाओं में प्राकृत-अपभ्रंश तथा पुरानी हिंदी का मिश्रित रूप प्रस्तुत कर रहे थे तो सरहपा, शबरपा, लुइपा, कण्हपा और गोरखनाथ तथा गोपीचंद जैसे सिद्ध नाथ कवि अपभ्रंश के साथ लोक-भाषा हिंदी को रचनाओं में प्रयुक्त कर रहे थे। राजशेखर की 'कर्पूर-मंजरी', अमरूक का 'अमरू शतक' तथा हाल की 'आर्या सप्तशती' अपभ्रंश की उत्कृष्ट कृतियाँ बनीं। वास्तव में इस काल की तीन भाषाएँ तीन तरह की रचना-प्रवृत्तियों की सूचक बन जाती हैं। संस्कृत राज-प्रवृत्ति की सूचक है तो प्राकृत एवं अपभ्रंश धर्म ग्रंथों की भाषा है और हिंदी जनता की मानसिक स्थितियों एवं भावनाओं को प्रतिनिधित्व देने वाली भाषा है।

अतः स्पष्ट है कि इस चार सौ वर्षों के युग में एक तरफ तो संस्कृत के वे आचार्य, कवि तथा दार्शनिक हुए जिनकी रचनाएँ, विचारधाराएँ तथा सिद्धांत आज भी अनुकरणीय बने हुए हैं। दूसरी तरफ मुख्यतः धार्मिक-साहित्य का माध्यम बनने वाली प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा में लिखा गया साहित्य था। इस ग्रंथ में संस्कृत को भी अपनाया गया। इस युग की अपभ्रंश भाषा में मिलने वाली अन्य प्रसिद्ध कृतियों में 'संदेश-रासक', 'भविसयत्तकहा', 'पउमचरिउ' तथा 'परमात्मप्रकाश' आदि भी उल्लेखनीय हैं। यहाँ एक तथ्य और ध्यान देने योग्य है कि प्राकृत-अपभ्रंश भाषा के विभिन्न रूपों से ही आधुनिक भारतीय भाषाओं का जन्म भी हुआ है। अपभ्रंश के परवर्ती विकास को तो 'अवहट्ठ' या 'पुरानी हिंदी' कहा भी जाता रहा है।

आदिकाल के वीरगाथात्मक काव्य में आश्रयदाताओं के शौर्य-गान और अतिरंजनापूर्ण प्रशस्ति गान को तो सहज ही देखा जा सकता है। विजयपाल रासो, हम्मीर रासो, खुमाण रासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो तथा परमाल रासो आदि रचनाओं से यह प्रमाणित भी होता है। अगली इकाइयों में आप इसका विस्तृत अध्ययन भी कर सकेंगे। यहाँ केवल यह जान लेना पर्याप्त है कि आदिकालीन विघटन भरी इन विविध परिस्थितियों में रहकर भी साहित्यकार सृजन से जुड़ा रहा। साहित्य और भाषा को इस वातावरण में भी पर्याप्त अवसर मिलते रहे। यही कारण है कि इस युग में वीर, भक्ति तथा श्रृंगार के साथ धार्मिक, लौकिक और नीतिपरक साहित्य भी लिखा जाता रहा। इस साहित्य-सृजन का माध्यम बनने वाली भाषाओं में वैदिक-संस्कृत, संस्कृत, पालि-प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिंदी भाषाएँ अपना पूरा योगदान देती रहीं। यही नहीं, इस युग और परिवेश में हमें चंदबरदाई, विद्यापति, अमीर खुसरो, स्वयंभू, पुष्पदंत, सरहपा, गोरखनाथ अब्दुर्रहमान, दलपति विजय, नरपति नाल्ह तथा जगनिक जैसे साहित्य-सर्जक भी उपलब्ध होते हैं।

अतः दसवीं से चौदहवीं शताब्दी का काल, साहित्य और भाषा की दृष्टि से विकास का काल था। विविध काव्य रूपों और शैलियों में वीरगाथाओं को प्रस्तुत करते हुए युद्धों के सजीव वर्णन किए गए, श्रृंगार रस की कुशल अभिव्यक्ति की गई, आश्रयदाताओं की प्रशंसा और शौर्य गान होते रहे, राष्ट्रीयता से दूर कवि अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करता रहा, ऐतिहासिक असंगतियाँ काव्य में पनपती रहीं, भक्ति, नीति और प्रकृति का भी वर्णन होता रहा। इन सभी विशेषताओं का विस्तृत विवेचन अगली इकाई में किया जाएगा। यहाँ आदिकालीन भाषा और साहित्य-सामग्री को स्पष्टतः समझने के लिए एक तालिका प्रस्तुत है। इससे आप स्थिति को आसानी से जान सकेंगे —

आदिकालीन साहित्य एवं भाषा

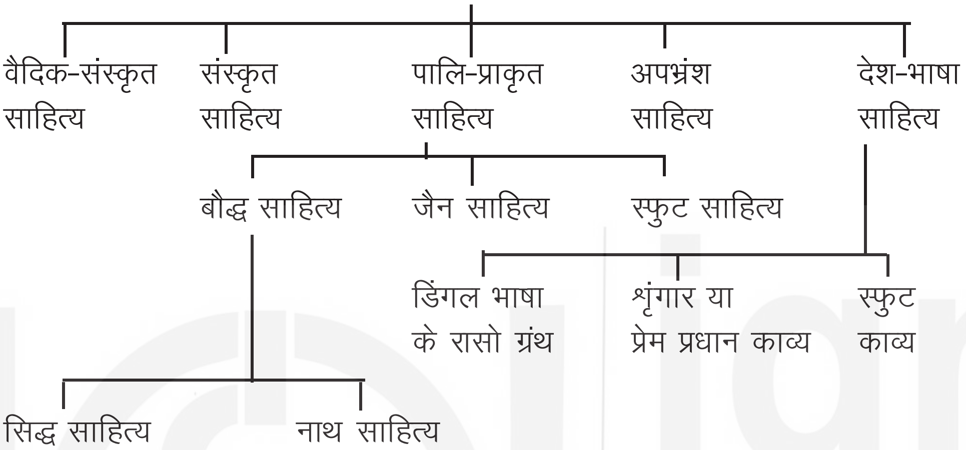

3.6 आदिकालीन साहित्य पर परिस्थितियों का प्रभाव

इस समग्र विवेचन से यह तो स्पष्ट है कि आदिकाल का युग राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं आर्थिक रूप से उथल-पुथल तथा बिखराव का युग था। इन सभी परिस्थितियों ने उस युग के साहित्य एवं साहित्यकारों को जो परिवेश और पृष्ठभूमि दी उसकी अभिव्यक्ति भी साहित्य में सहज ही दिखाई देती है। यों भी साहित्य को तो समाज का दर्पण कहा जाता रहा है। वास्तव में समय एवं स्थिति ने जैसा बीज-वपन किया परिवेश ने वैसा ही फल प्रदान किया। नेतृत्व प्रदान करने वाले ही जन-सामान्य को दिशा-दृष्टि भी देते हैं। इस युग के शासक और उनकी शासन-व्यवस्था की देन ने जन-मानस को ही नहीं सर्जक-मनीषा को भी प्रभावित किया और परिणाम 'साहित्य' के रूप में सामने आया। साहित्यिक सामग्री और साहित्यकारों की मानसिकता की द्योतक बनी साहित्यिक-प्रवृत्तियाँ उस युग की परिस्थितियों से प्रभावित और नियंत्रित होती रहीं। इसमें संदेह नहीं है कि ऐसी अव्यवस्था तथा अराजकता के युग में किसी एक भाषा और उसके साहित्य का विकसित होना सरल नहीं होता। इसलिए इस युग में एक साथ कई भाषाएँ और वैविध्य-संपन्न साहित्य के दर्शन होते हैं। वास्तव में शासक की रुचि, ज्ञान और मनोवृत्ति के आधार पर ही अलग-अलग समय में भिन्न-भिन्न प्रकार के साहित्य और भाषा का विकास हो सका। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने 'हिंदी साहित्य के इतिहास' में चित्तवृत्तियों को व्यक्तित्व और परिस्थितियों से प्रभावित होने की चर्चा करते हुए कहा भी है – "जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास

कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है। अतः कारण स्वरूप इन परिस्थितियों का किंचित दिग्दर्शन भी साथ ही साथ आवश्यक होता है।''

अतः यह स्पष्ट है कि जन-मानस की चित्तवृत्ति, शासक की रुचि तथा परिवेश का रुख ही आदिकाल में भी साहित्य धारा की दिशा निर्धारित करता है। चाहे वह वीरगाथा साहित्य हो या भक्ति, नीति और प्रकृति संबंधी हो, चाहे वह श्रृंगारपरक साहित्य हो या प्रशस्ति और शौर्य-गान संबंधी, सभी में युग का प्रतिबिंब झलकता है। शासकों के आश्रय में ही साहित्य पला और वहीं भाषा ने भी विकास पाया। एक शासक ने किसी विशेष भाषा और साहित्य-प्रवृत्ति को आश्रय दिया तो अन्य ने किसी और को। हर्षवर्धन के काल में राज्याश्रित भाषा संस्कृत थी तो गुजरात के राज्याश्रयों में अपभ्रंश सम्मानित हो रही थी। मालवा के परमारों तथा बुंदेलखंड के चंदेलों के दरबार में भाषा-कवियों द्वारा साहित्य को सजाया-सँवारा जाता रहा। इसी प्रकार युद्धों के वातावरण ने वीरगाथात्मक काव्य को प्रोत्साहित किया तो अंधविश्वासों, नारी को उपभोग्य मानने वाली दृष्टियों तथा धर्म और समाज के अनाचारों-दुराचारों को सिद्ध-साहित्य की साधना-पद्धति में अभिव्यक्ति मिली।

अतः कह सकते हैं कि साहित्य और भाषा की दृष्टि से सम्पन्न हिंदी साहित्य का यह प्रारंभ काल जिसे आदिकाल कहा गया, उसकी भाषा एवं साहित्य पर युगीन परिवेश तथा सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता रहा और उसी से वह साहित्य नियमित एवं नियंत्रित भी होता रहा।

बोध प्रश्न

4) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लगभग दस पंक्तियों में दीजिएः

i) आदिकाल की राजनीतिक परिस्थितियाँ क्या थीं?

....

....

....

....

....

....

....

ii) आदिकालीन धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों की समीक्षा कीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

iii) आदिकाल की साहित्यिक परिस्थितियों का विवेचन कीजिए।

....

....

....

....

....

iv) आदिकालीन सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ कैसी थीं? समीक्षा कीजिए।

....

....

....

....

....

5) आदिकालीन साहित्य को युगीन परिस्थितियों ने कैसे प्रभावित किया? लगभग पाँच पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

....

....

....

....

6) नीचे दिए गए कुछ वाक्य सही हैं तथा कुछ गलत। उपयुक्त चिह्न से स्पष्ट कीजिए-

i) आदिकाल के विकास का समय ऐतिहासिक एवं राजनीतिक दृष्टि से शांति का समय था। ( )

ii) आदिकाल में शासक और जनता की रुचि तथा मनोवृत्ति के कारण ही भिन्न-भिन्न प्रकार के साहित्य एवं भाषा का विकास हुआ। ( )

iii) जनता की चित्तवृत्तियाँ युग की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों से अप्रभावित रहती हैं। ( )

iv) आदिकालीन साहित्य में युगीन परिस्थितियों को प्रतिबिम्बित होते नहीं देखा गया। ( )

v) आदिकालीन साहित्य में संस्कृत साहित्य तथा प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य अत्यंत गौण है जबकि हिंदी-भाषा साहित्य प्रमुख है। ( )

3.7 सारांश

आदिकालीन परिस्थितियों के अध्ययन संबंधी इस इकाई के विस्तृत विवेचन एवं गहन विश्लेषण से आप यह जान सके कि —

- युग के साहित्य को नियमित नियंत्रित करने वाली स्थितियों के कारण आदिकालीन साहित्य परस्पर विरोधी चिंतनधाराओं की वैविध्यमयी-अभिव्यक्ति का साहित्य है।
- कवि या लेखक साहित्य-सृजन से परिवेश और स्थितियों को निर्मित-परिवर्तित करता है तो सामाजिक वातावरण और युगीन परिस्थितियों में शामिल संदर्भ, घटना, परिवेश और समय-चक्र भी लेखन को दिशा-दृष्टि देकर प्रभावित करते हैं।
- दसवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक के उस हिंदी साहित्य को आदिकाल कहा गया जिसमें राजनीतिक उथल पुथल, विदेशी आक्रमण, दो-दो संस्कृतियों के मिलन, अशांत, अव्यवस्थित तथा विघटन भरी सामाजिक स्थिति, धर्म एवं संप्रदाय वैविध्य, दर्शनों के बिगड़ते स्वरूप, जन-मानस को पथ-विचलित करते टोने-टोटके या तंत्र-मंत्र और जैन, वैष्णव, शैव, कापालिक,शाक्त सिद्ध-नाथ आदि धार्मिक संप्रदायों के आधिपत्य का वर्णन किया गया है।
- युगीन परिवेश और युद्ध के वातावरण एवं उनके कारणों से वीर तथा शृंगार रस परक काव्य-सृजन की पृष्ठभूमि बनती रही और शासक की चित्तवृत्ति तथा जन-मानस की तात्कालिक रुचि के अनुरूप साहित्य ढलता गया।
- जिस युग की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि युद्ध, विघटन, अराजकता तथा सत्ता-मद के कारण आदर्श-साहित्य-सृजन में सहायक न थी उसमें भी पर्याप्त साहित्य तथा कई भाषाओं का विकास संभव हो सका।
- आदिकालीन साहित्य का प्रेरणा-स्रोत बनने वाली संस्कृत, पालि-प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा और उसके साहित्य ने उस युग के कवियों, शासकों और चिंतकों को प्रभावित भी किया। काव्यशास्त्र तथा काव्य के क्षेत्र में संस्कृत की इस परंपरा का अनुसरण रीतिकाल तक किया जाता रहा।
- आदिकालीन परिवेश, रुचि, स्थितियों और चित्तवृत्तियों ने भाषा एवं साहित्य को जनता तथा शासक की अपेक्षाओं के अनुकूल बनाने के लिए नियमित एवं नियंत्रित किया।

3.8 शब्दावली

स्वतोव्याघात : स्वयं उत्पन्न की गई बाधाएँ

मनोभाव : मन में स्थित भाव

राज्याश्रय : किसी राज्य अर्थात् शासक के राज के आश्रय

वायवी : निराधार, हवाई या अविश्वसनीय

नियामक : नियंत्रित करने वाला

मतावलंबी : किसी मत विशेष के समर्थक

निराश्रित : आश्रय रहित

आक्रांत : भयभीत या सहमा हुआ

देशीभाषा : लोकभाषा, जनता द्वारा बोली जाने वाली भाषा

चरित काव्य : ऐसा काव्य जिसमें किसी व्यक्ति का चरित्र-चित्रण प्रमुख हो

अतिरंजनापूर्ण : अत्यंत बढ़ा-चढ़ा कर कहा गया

3.9 उपयोगी पुस्तकें

हिंदी साहित्य का इतिहास, संपादक, डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

हिंदी साहित्य का इतिहास, डॉ. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

हिंदी साहित्य का आदिकाल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना।

हिंदी साहित्य की भूमिका, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

3.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

1) i) ✔
   ii) ✕
   iii) ✔
   iv) ✕
   v) ✕

2) i) देखिए 3.2.1
   ii) देखिए 3.2.2
   iii) देखिए 3.3

3) देखिए 3.4

4) i) देखिए 3.5.1
   ii) देखिए 3.5.2
   iii) देखिए 3.5.4
   iv) देखिए 3.5.3

5) देखिए 3.6

6) i) ✕
   ii) ✔
   iii) ✕
   iv) ✕
   v) ✕

इकाई 4 आदिकालीन काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 धर्म संबंधी साहित्य

- 4.2.1 सिद्ध कवि
- 4.2.2 नाथ कवि
- 4.2.3 जैन कवि

4.3 रासो काव्य

4.4 प्रमुख रासो कृतियाँ

- 4.4.1 वीरगाथात्मक रासो काव्य
- 4.4.2 शृंगारपरक रासो काव्य
- 4.4.3 धार्मिक एवं उपदेशमूलक रासो काव्य

4.5 रासोकाव्य की प्रमुख विशेषताएँ

- 4.5.1 ऐतिहासिकता और कल्पना
- 4.5.2 प्रशस्ति काव्य
- 4.5.3 युद्ध और प्रेम
- 4.5.4 काव्य रूप

4.6 अभिव्यंजना पक्ष

- 4.6.1 भाषागत विशेषताएँ
- 4.6.2 अलंकार
- 4.6.3 छंद

4.7 आदिकालीन फुटकर साहित्य

- 4.7.1 अमीर खुसरो
- 4.7.2 विद्यापति
- 4.7.3 भविसयत्त कहा

4.8 सारांश

4.9 उपयोगी पुस्तकें

4.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.0 उद्देश्य

पिछली इकाई में आप आदिकालीन परिस्थितियों का अध्ययन कर चुके हैं। यह इकाई आदिकालीन काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों से संबंधित है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- धर्म संबंधी साहित्य के अंतर्गत जैन, नाथ तथा सिद्ध साहित्य की विशेषताओं को समझा सकेंगे;
- रासो काव्य की विस्तार से चर्चा कर सकेंगे; और
- लौकिक तथा अन्य स्फुट साहित्य के अंतर्गत अमीर खुसरो एवं विद्यापति के काव्य की विशेषताओं का विश्लेषण कर सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

इकाई 3 में आपने आदिकालीन परिस्थितियों के विषय में जानकारी प्राप्त की। आपके मन में यह प्रश्न अवश्य उठ रहा होगा कि उन परिस्थितियों में किस प्रकार के साहित्य की रचना हुई। यह इकाई आपके उसी प्रश्न के उत्तर के रूप में प्रस्तुत है। इस इकाई में हम आपको उस काल के साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों के विषय में विस्तृत जानकारी देंगे।

आदिकालीन साहित्य को हमने विषय की दृष्टि से तीन वर्गों में विभक्त किया है-धर्म संबंधी काव्य, चारण कवियों द्वारा रचित रासो काव्य तथा लौकिक तथा स्फुट साहित्य। 'धर्म संबंधी काव्य' के अंतर्गत नाथ, सिद्ध तथा जैन साहित्य का विवेचन किया गया है। वस्तुतः इन तीनों संप्रदायों के साहित्य का मुख्य विषय धर्म तथा साधना पक्ष का प्रचार प्रसार काव्य के माध्यम से करना है। यद्यपि जैन कवियों ने केवल धर्म संबंधी साहित्य की रचना ही नहीं की है, अपितु उन्होंने 'रासो' के नाम से भी काव्य रचना की तथा स्फुट लौकिक साहित्य में भी योगदान दिया। परंतु इस वर्ग के अंतर्गत केवल उनके धर्मोपदेश संबंधी साहित्य की ही चर्चा की गई है। उनके द्वारा रचित रासो कृतियों की चर्चा हम रासो काव्य के अंतर्गत करेंगे।

चारण कवियों द्वारा रचित 'रासो काव्य' वर्ग के अंतर्गत उस काल में 'रासो' के नाम से लिखे गए वीरगाथात्मक साहित्य का विवेचन किया गया है। वस्तुतः रासो काव्य लेखन उस युग की प्रमुख प्रवृत्ति मानी जाती है। रासो साहित्य की मुख्य रूप से तीन प्रवृत्तियाँ मानी जाती हैं-वीरगाथात्मक रासो काव्य, शृंगारपरक रासो काव्य, तथा धार्मिक रासो काव्य।

'लौकिक तथा स्फुट साहित्य' के अंतर्गत उन फुटकर कवियों तथा काव्य कृतियों का विश्लेषण किया गया है जिन्होंने लीक से हटकर काव्य लेखन के क्षेत्र में कुछ नवीन कार्य किया। इस वर्ग के कवियों में अमीर खुसरो तथा विद्यापति का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। काव्य-कृति के क्षेत्र में 'धनपाल' की 'भविसयत्त कहा' प्रमुख है। अमीर खुसरो ने ही सर्वप्रथम खड़ी बोली को काव्य लेखन का माध्यम बनाया तथा पहेलियों एवं मुकरियों के लेखन की शुरूआत की। विद्यापति ने राधाकृष्ण को नायक-नायिका मानकर जिस शृंगारिक काव्य लेखन की प्रवृत्ति को अपनाया वह 'रीतिकाल' में अपनी पूर्णता में द्रष्टव्य है। 'भविसयत्त कहा' के कवि ने काव्य लेखन के पारंपरिक शास्त्रीय विधान से अलग हट कर अपने काव्य का नायक एक साधारण एवं सामान्य व्यक्ति को बनाया तथा उसके जीवन का चरित प्रस्तुत किया।

4.2 धर्म संबंधी साहित्य

धर्म संबंधी साहित्य के अंतर्गत उस साहित्य का उल्लेख किया जाता है जो किसी मत विशेष के प्रचार-प्रसार करने हेतु लिखा गया। इसमें जैन धर्म, सिद्ध संप्रदाय तथा नाथ संप्रदाय के कवियों की रचनाएँ समाहित हैं। यद्यपि आचार्य रामचंद्र शुक्ल का कहना था कि ये रचनाएँ विविध धर्मों के विषय में लिखी गई हैं, इसलिए इन्हें साहित्यिक रचनाएँ नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः ये रचनाएँ केवल धर्म का प्रचार मात्र ही नहीं थीं अपितु इन्हें उत्तम काव्य की कोटि में भी रखा जा सकता है। इस संदर्भ में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का कहना है कि "इधर जैन, अपभ्रंश चरित-काव्यों की जो विपुल सामग्री उपलब्ध हुई है, वह सिर्फ धार्मिक संप्रदाय के मुहर लगाने मात्र से अलग कर दी जाने योग्य नहीं है।..........अपभ्रंश की कई रचनाएँ जो मूलतः जैन-धर्म-भावना से प्रेरित होकर लिखी गई हैं, निस्संदेह उत्तम काव्य हैं। यह बात बौद्ध सिद्धों की कुछ रचनाओं के बारे में भी कही जा सकती है।"

धर्म-संबंधी साहित्य के अंतर्गत हम उस काल के प्रमुख संप्रदायों एवं उनके प्रमुख कवियों द्वारा रचित साहित्य की विवेचना करेंगे। इस प्रक्रिया में सबसे पहले सिद्ध संप्रदाय के साहित्य का विश्लेषण किया गया है।

4.2.1 सिद्ध कवि

सिद्ध संप्रदाय को बौद्ध धर्म की परंपरा का हिंदू धर्म से प्रभावित एक धार्मिक आंदोलन माना जाता है। तांत्रिक क्रियाओं में आस्था तथा मंत्र द्वारा सिद्धि चाहने के कारण इन्हें 'सिद्ध' कहा जाने लगा। इन सिद्धों की संख्या 84 मानी गई है। राहुल सांकृत्यायन ने तथा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इन 84 सिद्धों के नामों का भी उल्लेख किया है जिनमें सरहपा, शबरपा, कण्हपा, लुइपा, डोम्भिपा, कुक्कुरिपा आदि प्रमुख हैं। इन सभी सिद्धों के नाम के आगे लगा 'पा' शब्द सम्मानसूचक शब्द 'पाद' का विकृत रूप है। इनमें से केवल 14 सिद्धों की रचनाएँ ही अभी तक उपलब्ध हैं।

सिद्धों द्वारा जनभाषा में लिखित साहित्य को सिद्ध साहित्य कहा जाता है। यह साहित्य वस्तुतः बौद्ध धर्म के वज्रयान का प्रचार करने हेतु रचा गया। अनुमानतः इस साहित्य का रचनाकाल सातवीं से तेरहवीं शती के मध्य तक है। इन सिद्ध कवियों की रचनाएँ प्रमुखतः दो काव्य रूपों में मिलती हैं- 'दोहा कोष' तथा 'चर्यापद'। सिद्धाचार्यों द्वारा लिखित दोहों का संग्रह 'दोहा कोष' के नाम से जाना जाता है तथा उनके द्वारा रचित पद 'चर्यापद' या 'चर्यागीत' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

सिद्ध साहित्य में स्वाभाविक सुख भोगों को स्वीकार करने की बात की गई है तथा गृहस्थ जीवन पर बल दिया गया है। इन्होंने पाखंड तथा बाह्य अनुष्ठानों का विरोध किया है तथा अपने शरीर में ही परमात्मा का निवास माना है। सिद्धों के साहित्य में गुरु के विशेष महत्व को प्रतिपादित किया गया है। उनके अनुसार शरीर में स्थित ब्रह्म की प्राप्ति गुरु की कृपा के द्वारा ही संभव है। क्योंकि विविध तांत्रिक क्रियाओं एवं उनके प्रयोगों का विश्लेषण गुरु ही बता सकता है जिसके माध्यम से अभीष्ट की प्राप्ति की जा सकती है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार सिद्ध साहित्य की "रचनाओं में प्रधान रूप से नैरात्म्य भावना, काया योग, सहज शून्य की साधना और भिन्न प्रकार की समाधिजन्य अवस्थाओं का वर्णन है।"

सिद्ध साहित्य की भाषा को अर्धमागधी अपभ्रंश के निकट माना जाता है। चूँकि इस साहित्य की भाषा को अपभ्रंश तथा हिंदी के संधि काल की भाषा माना जाता है, अतः इसे 'संध्या या संधा भाषा' का नाम भी दिया गया है।

प्रभाव

वस्तुतः सिद्ध कवियों का अभीष्ट काव्य लेखन नहीं था। वे तो केवल अपने विचारों एवं सिद्धांतों की अभिव्यक्ति के लिए जनभाषा में साहित्य रचते थे। इनकी भाषा शैली में जो अक्खड़पन और प्रतीकात्मकता है उसका प्रभाव परवर्ती हिंदी साहित्य पर भी पड़ा। इन कवियों ने अपनी बात सीधे-सादे ढंग से न कहकर तंत्र-मंत्र के अंतर्गत प्रयोग किये जाने वाले विशिष्ट शब्दों के माध्यम से की है। कबीर आदि संत कवियों में दिखाई देने वाली यह विशिष्ट शैली तथा अक्खड़पन इन्हीं कवियों का प्रभाव कहा जा सकता है। राहुल सांकृत्यायन परवर्ती हिंदी कवियों पर इनके प्रभाव के संबंध में कहते हैं- "यही कवि हिंदी काव्यधारा के प्रथम स्रष्टा थे। नए-नए छंदों की सृष्टि करना तो इनका अद्भुत कृतित्व था। इन्होंने दोहा, सोरठा, चौपाई, छप्पय, आदि कई सौ छंदों की सृष्टि की, जिन्हें हिंदी कवियों ने बराबर अपनाया है।"

अभी तक जिन 14 सिद्धों की रचनाएँ प्राप्त हुई हैं उनमें सरहपा का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। सरहपा को सरहपाद, राहुलभद्र आदि कई नामों से जाना जाता है। इनका समय 769 ई. के लगभग स्वीकार किया जाता है। माना जाता है कि इन्होंने 32 ग्रंथों की रचना की। जिनमें 'कायाकोश', 'दोहाकोष', 'सरहपादगीतिका' तथा 'चर्यागीति-दोहाकोष ' प्रमुख हैं। ये ग्रंथ वज्रयान की विवेचना से संबद्ध हैं।

दोहा कोष इनकी प्रसिद्ध रचना है। इसमें 'दोहा' छंद की प्रधानता है। इस कृति की मूल हिंदी भाषा पर शौरसेनी अपभ्रंश का प्रभाव माना जाता है। इसमें कवि ने गुरु की सेवा को प्रमुखता दी है तथा पाखंड का विरोध किया है। इस कृति में निहित विचारों तथा शिल्प का प्रभाव ही कबीर आदि परवर्ती भक्तिकालीन कवियों पर माना जाता है। कवि ने कृति में स्वीकार किया है कि शास्त्रों के वर्णन से ही ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। वह तो हमारे भीतर ही रहता है :

'पंडिअ सअल सत्त बक्खाणइ।
देहहिं बुद्ध बसन्त ण जाणइ।।'

(अर्थात् पंडित सभी शास्त्रों का बखान करते हैं, किंतु देह में बसने वाले बुद्ध (अर्थात् ब्रह्म) को नहीं जानते)।

सरहपा ने अपनी इस कृति में ब्राह्मण, जैन आदि संप्रदायों में फैले व्यभिचार तथा पाखंड की निन्दा भी की है।

सरहपा के अतिरिक्त अन्य उल्लेखनीय सिद्ध कवि शबरपा, लुइपा, डोम्भिपा, कुक्कुरिपा कण्हपा तथा शान्तिपा हैं। शबरपा को सरहपा का शिष्य माना जाता है। इन्होंने लगभग 16 ग्रंथों की रचना की जिनमें 'चर्यापद' इनकी प्रसिद्ध कृति है। इन्होंने स्वाभाविक जीवन पर बल देते हुए माया मोह का विरोध किया है। चौरासी सिद्धों में लुइपा का सर्वोच्च स्थान माना जाता है। ये शबरपा के शिष्य थे। इनके काव्य में दर्शन एवं रहस्य भावना का प्राधान्य है। डोम्भिपा ने 21 ग्रंथों की रचना की जिनमें 'डोम्बि-गीतिका' प्रमुख है। कुक्कुरिपा ने लगभग 16 ग्रंथों का प्रणयन किया। इनके काव्य का मूल विषय भी साधना एवं गुरु का महत्व प्रतिपादन करना है। कण्हपा ने सर्वाधिक कृतियों की रचना की। इनकी रचनाएँ 74 मानी गई हैं जिनमें 'कण्हपादगीतिका' तथा 'दोहाकोश' प्रमुख हैं। इनके ग्रंथ दर्शन तथा तंत्र पर आधारित हैं। शान्तिपा अनेक विहारों का भ्रमण कर प्राचीन धर्म ग्रंथों का अध्ययन तथा धर्मप्रचार किया करते थे। उन्होंने मनुष्य के जीवन का मूल उद्देश्य सहजानंद की प्राप्ति को माना है। यह आनंद माया मोह का त्याग करने पर शरीर के भीतर ही प्राप्त होता है जिसका मार्गदर्शक गुरु है।

इन सभी सिद्ध कवियों की रचनाओं का मूल विषय साधना का निरूपण तथा अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन करना था। अतः उन्होंने अलंकार या काव्य सौंदर्य पर बल नहीं दिया बल्कि ऐसी भाषा में धर्म प्रचार किया जो लोकभाषा थी। उन्होंने जिस प्रतीकात्मक शैली में बात की उसे साधना पक्ष के पारिभाषिक शब्दों को जानकर ही समझा जा सकता था।

4.2.2 नाथ कवि

नाथ संप्रदाय को सिद्धों की परंपरा का विकसित रूप माना जाता है। नाथ साहित्य का प्रवर्तक गोरखनाथ को स्वीकार किया जाता है। इस संप्रदाय के रचनाकारों ने सिद्ध साहित्य को और अधिक पल्लवित किया। इनकी साधना सिद्ध साधना से अलग है। इन्होंने सिद्धों द्वारा अपनाए गए योग प्रधान योगमार्ग के स्थान पर हठयोग-साधना का मार्ग अपनाया। इस संप्रदाय ने शैवमत के सिद्धांतों को स्वीकार किया तथा शिव को आदिनाथ माना। इनके योग मार्ग में मूलतः संयम तथा सदाचार पर बल दिया गया।

आइए, अब हम इन योगियों के साहित्य के मूल विषय तथा सिद्धांत की थोड़ी चर्चा करें। नाथ संप्रदाय को अनेक नामों से जाना जाता है जैसे-सिद्धमत, योगमार्ग, योग संप्रदाय, अवधूत मत, सिद्ध मार्ग आदि। नाथ संप्रदाय में 'नाथ' शब्द का अर्थ 'मुक्ति देने वाला' प्रचलित है। उन्होंने अपने साहित्य में स्पष्ट किया है कि यह मुक्ति सांसारिक आकर्षणों एवं भोग-विलास से है। इस प्रकार इस संप्रदाय के योगियों ने निवृत्ति के मार्ग पर जोर दिया तथा उन्होंने गुरु को ही इस मार्ग का मार्गदर्शक माना। उनके साहित्य में विविध साधना द्वारा कुंडलिनी जाग्रत कर परमानंद आदि की क्रिया का विवरण मिलता है। उनके अनुसार गुरु से दीक्षा लेकर उसके उपदेश द्वारा वैराग्य प्राप्त किया जा सकता है। वैरागी होने पर शिष्य प्राणसाधना के माध्यम से कुंडलिनी जाग्रत कर मन को अंतर्मुखी कर लेता है जिससे उसे अपने भीतर ही परम आनंद की प्राप्ति होती है। इस संप्रदाय में प्राण साधना से पहले इंद्रिय निग्रह पर बल दिया गया है। इंद्रिय निग्रह के अंतर्गत नारी से दूर रहने की प्रवृत्ति प्रमुख है क्योंकि उनका मानना है कि नारी ही चारित्रिक पतन का कारण है। गोरख के काव्य में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से दिखाई देती है। आगे चलकर भक्तिकाल में कबीर ने भी इसी प्रवृत्ति को अपनाया तथा नारी का विरोध स्पष्ट शब्दों में किया। उनके तथा अन्य संत कवियों के काव्य में द्रष्टव्य प्राण साधना, कुंडलिनी जागरण एवं मनसाधना आदि की क्रियाओं का वर्णन भी नाथ योगी कवियों का प्रभाव कहा जा सकता है।

नाथ योगियों का काव्य भी सिद्ध साहित्य की ही भाँति सिद्धांत प्रतिपादन हेतु लिखा गया था। इसीलिए इनका साहित्य प्रतीकात्मक शैली में रचित है। इन्होंने अनेक प्रतीकों के माध्यम से अपने मंतव्य को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इनके साहित्य में प्रयुक्त प्रतीक सूर्य, चंद्र, गगन, कमल आदि हैं। इनके यहाँ सूर्य 'ह' के तथा चंद्र 'ठ' के प्रतीक हैं। सूर्य तथा चंद्र के मिलन को ही 'हठयोग' कहा गया है। इनकी योग साधना का ज्ञान होने पर ही इन प्रतीकों को ठीक से समझा जा सकता है। इनकी रचनाओं की भाषा अपभ्रंश से प्रभावित पुरानी हिंदी है जिसमें पंजाबी, ब्रज, अवधी आदि के शब्दों का सम्मिलन दृष्टिगत होता है। आचार्य शुक्ल ने इन ग्रंथों की भाषा देशभाषा मिश्रित अपभ्रंश अर्थात् पुरानी हिंदी मानी है। ब्रज के जिन शब्दों का प्रयोग इस साहित्य में किया गया है उनमें-लषावे, पहणे, दीसे, तहा आदि प्रमुख हैं। अवधी के शब्दों में होइ, भैला, जाब, कहै, बाजे आदि प्रयोग किए गए हैं।

नाथ योगियों की संख्या 9 मानी गई है। इनके नाम-नागार्जुन, जड़भरत, हरिश्चंद्र, सत्यनाथ, भीमनाथ, गोरखनाथ, चर्पटनाथ, जलंधर और मलयार्जुन हैं। इस संप्रदाय का आचार्य गोरखनाथ को माना जाता है। मत्स्येंद्रनाथ उनके गुरु थे। यहाँ हम नाथ संप्रदाय के आचार्य गोरखनाथ का संक्षिप्त परिचय देंगे जिससे आपको उनके द्वारा रचित माने गए प्रमुख नाथ साहित्य की जानकारी प्राप्त होगी।

गोरक्षनाथ (गोरखनाथ)- गोरखनाथ को नाथ संप्रदाय का आचार्य तथा नाथ साहित्य का प्रवर्तक माना गया है। इनके आविर्भाव काल के संबंध में अनेक विद्वानों में मतभेद हैं। राहुल सांकृत्यायन ने इनका समय 845 ई. माना। आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी इन्हें नवीं शती का तथा आचार्य शुक्ल इन्हें 13वीं शती का मानते हैं। बाद में विद्वानों द्वारा की गई खोजों के बाद यह माना जाने लगा कि इनका रचनाकाल 13वीं शती ही है।

गोरखनाथ द्वारा रचित ग्रंथों की संख्या चालीस मानी जाती है परंतु आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी तथा पीतांबरदत्त बड़थ्वाल आदि उल्लेखनीय विद्वानों ने इनके द्वारा रचित जो ग्रंथ

स्वीकार किए हैं उनके नाम हैं-सबदी, पद, प्राण संकली, सिष्यादासन, आदि। इन ग्रंथों में संयम, साधना तथा ब्रह्मचर्य पर जोर दिया गया है साथ ही गुरु की महत्ता का बखान भी किया गया है। तांत्रिक विधान की जानकारी भी इनके ग्रंथों में मिलती है। इन्होंने धार्मिक कर्मकांडों तथा अंधविश्वासों का खंडन भी किया है।

गोरखनाथ के अतिरिक्त नाथ संप्रदाय के अन्य प्रमुख कवियों में चर्पटनाथ का भी उल्लेख किया जाता है। ये गोरखनाथ के शिष्य थे। इनका आविर्भाव तेरहवीं शती में माना जाता है। इनकी बानियों में भी हठयोग साधना करने की बात कही गई है तथा जप-तप आदि का विरोध किया गया है। इनके अनुसार शिष्य होने में लाभ होता है क्योंकि उसे तो गुरु द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती रहती है जबकि गुरु बनने में लाभ नहीं हानि ही हैः

> जाणि के अजाणि होय बात तूं ले पछाणि।
> चेले हो इआं लाभ होइगा गुरु होइआं हाणि।।

अर्थात् तू जानबूझ कर अनजान मत बन और यह बात पहचान (जान) ले कि शिष्य बनने में लाभ ही लाभ है और गुरु बनने में हानि है।

विशेषताएँ एवं महत्व

नाथ योगियों ने आचरण की शुद्धि और चरित्रवान होने पर बहुत जोर दिया। उनके योग में संयम और सदाचार का बहुत महत्व था। गोरखनाथ द्वारा अपने शिष्यों को दी गई नारी से दूर रहने की शिक्षा का कबीर के काव्य में स्पष्ट संकेत मिलता है। कबीर तथा अन्य भक्तिकालीन संत कवियों के साहित्य में प्राप्त कुंडलिनी जाग्रत करने की क्रिया का आधार भी नाथ योगियों का हठयोग है। नाथ साहित्य का महत्व बताते हुए आचार्य द्विवेदी कहते हैं – ''इसने परवर्ती संतों के लिए श्रद्धाचरण प्रधान पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी। परवर्ती हिंदी साहित्य में चरित्रगत दृढ़ता, आचरण-शुद्धि और मानसिक पवित्रता का जो स्वर सुनाई पड़ता है, उसका श्रेय भी इसी साहित्य को ही है।''

बोध प्रश्न

1) निम्नलिखित रिक्त स्थानों की पूर्ति सही शब्द छाँटकर कीजिएः

   क) सिद्धों के नाम के आगे लगा 'पा' शब्द......................का विकृत रूप है। (पाद, पाक, पान)

   ख) 'दोहाकोष' के रचयिता...हैं। (सरहपा, शबरपा, कण्हपा)

   ग) ....मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य थे। (डोम्भिपा, नागार्जुन, गोरखनाथ)

   घ) नाथ योगियों की संख्या.........................मानी जाती है। (सात, नौ, ग्यारह)

2) सिद्ध कवियों में से किसी एक कवि का परिचय चार पंक्तियों में दीजिए :

   ....

   ....

   ....

4.2.3 जैन कवि

सांसारिक विषय वासनाओं पर विजय प्राप्त करने वाले को जैन कहा जाता है। जैन शब्द 'जिन' से बना है जिसका अर्थ है-विजय पाने वाला। यह सांसारिक आकर्षणों पर होने वाली विजय है। जैन संप्रदाय को बौद्ध धर्म से भी पूर्व का स्वीकार किया जाता है। इस धर्म के प्रवर्तक महावीर स्वामी थे। जिनका आविर्भाव महात्मा बुद्ध से पहले हुआ था। इस संप्रदाय में दया, करुणा, त्याग तथा अहिंसा को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। यह त्याग केवल इंद्रियनिग्रह में ही नहीं अपितु सहिष्णुता में है। इसीलिए इन्होंने व्रत-उपवास पर अधिक बल दिया।

जैन मुनियों ने अपने धर्म का प्रचार लोकभाषा में किया। यह अपभ्रंश से प्रभावित हिंदी थी। इनकी अधिकांश रचनाएँ धार्मिक हैं। जिनमें जैन संप्रदाय की नीतियों का प्रमुख रूप से उल्लेख है। इन कवियों की कृतियाँ रास, फागु चरित आदि विविध काव्य रूपों में प्राप्त होती हैं। इन कृतियों में उपदेशात्मक प्रवृत्ति की प्रधानता है तथा घटनाओं की बहुलता का अभाव है। चरित काव्यों में प्रसिद्ध पुरुषों की कथा का वर्णन है, परंतु उनमें भी धार्मिक भावनाओं की प्रधानता है। प्रमुख रास काव्यों में प्रेम, विरह तथा युद्ध आदि का वर्णन है लौकिक काव्य होने पर भी इनमें कहीं-कहीं धार्मिक तत्वों का समावेश हो गया है। कुछ जैन कवियों ने हिंदुओं की पौराणिक कथाओं के प्रमुख एवं प्रसिद्ध चरित्रों जैसे राम तथा कृष्ण को अपने धार्मिक सिद्धांतों के अनुरूप ढालकर प्रस्तुत किया है। इनके अतिरिक्त जैन कवियों ने रहस्यवादी काव्यों की भी सृष्टि की। वास्तव में इन कृतियों की भाषा ही अधिक शिष्ट एवं परिनिष्ठित है। इनमें योगीन्दु मुनि रचित 'परमात्म प्रकाश', 'योगसार' तथा मुनि रामसिंह द्वारा रचित 'पाहुड़दोहा' उल्लेखनीय हैं।

जैन कवियों में रासो काव्यकारों के अतिरिक्त जिन प्रमुख कवियों का उल्लेख किया जाता है वे स्वयंभू तथा पुष्पदंत हैं। हम इन्हीं दो मुख्य जैन कवियों तथा उनकी प्रमुख रचनाओं का उल्लेख यहाँ करेंगे।

स्वयंभू-इन्हें अपभ्रंश का प्रथम जैन कवि माना जाता है। अनुमानतः इनका जन्म सातवीं शती में हुआ था। इनकी उल्लेखनीय कृतियाँ तीन हैं जिनके नाम - 'रिट्ठणेमि चरिउ' (अरिष्ट नेमि चरित),'पउम चरिउ' (पद्म चरित) तथा 'स्वयंभू-छंदस' हैं। 'पउम चरिउ' इनका प्रसिद्ध ग्रंथ है। यह जैन रामायण है तथा इसमें 'राम' की कथा है। उन्होंने जैन धर्म की रीति-नीति के अनुसार राम कथा में अपेक्षित परिवर्तन भी किया है। अपनी इस कृति में कवि ने कुछ नवीन प्रसंग भी रखे हैं। स्वयंभू ने अपनी कृति को पाँच कांडों में विभक्त किया है। इस ग्रंथ में कवि ने प्रकृति-वर्णन, युद्ध-वर्णन आदि का विराट अंकन किया है। इस कृति के काव्य सौंदर्य के आधार पर स्वयंभू को अपभ्रंश का 'वाल्मीकि' कहा जाता' है। राहुल सांकृत्यायन ने स्वयंभू द्वारा रचित इस रामायण को हिंदी का 'सबसे पुराना एवं उत्तम काव्य' माना है।

'पउम चरिउ' में कवि ने अलंकारों का प्रसंगानुकूल एवं सशक्त प्रयोग किया है। कवि ने राम कथा के सौंदर्य को बताने के लिए रूपक अलंकार का सुंदर प्रयोग करते हुए कहा है :

दोह समाज पवाहावंकिय।
सक्कय पायय-पुलिणालंकिय।।

अर्थात् राम कथा में प्रयुक्त दीर्घ समास (राम कथा रूपी) नदी के प्रवाह के रूप में है। इस राम कथा रूपी नदी के संस्कृत और प्राकृत रूपी दो 'किनारे' हैं।

'रिटठ्णेमि चरिउ' (अरिष्ट नेमि चरित) में महाभारत और कृष्ण की कथा है। यह कृति चार कांडों-यादवकांड, कुरुकांड, युद्धकांड तथा उत्तरकांड में विभक्त है। प्रत्येक कांड का विभाजन संधियों में हुआ है। यादवकांड में कृष्ण के जन्म, एवं उनके विवाह आदि की कथा है, कुरुकांड कौरवों तथा पांडवों के जन्म, उनमें हुए वैमनस्य तथा युधिष्ठिर द्वारा जुए में सब कुछ हार कर अपने भाइयों सहित वन में प्रस्थान करने से संबद्ध है। युद्धकांड में कौरव-पांडवों का युद्ध तथा उत्तरकांड में उपसंहार है।

इस ग्रंथ में भी स्वयंभू ने जैन धर्म की रीति-नीति के अनुसार कृष्ण का चरित्र परिवर्तित कर उन्हें महामानव के रूप में चित्रित किया है। चूँकि यह कृति महाभारत के विस्तृत फलक पर आधारित है अतः इसका कथानक भी अत्यंत व्यापक है तथा इसमें वर्णनों की अधिकता है। प्रकृति-वर्णन के अंतर्गत कवि ने अनेक ऋतुओं का प्रसंगानुकूल वर्णन किया है।

यह कृति अपभ्रंश भाषा में रचित है। कहीं कहीं तत्सम शब्दों का भी प्रयोग है। उनकी भाषा साहित्यिक है तथा उसमें प्रवाहमयता है।

पुष्पदंत-पुष्पदंत का आविर्भाव काल दसवीं शती के प्रारंभ में माना जाता है। पहले ये शैव थे परंतु बाद में जैन धर्म में दीक्षित हो गए थे। इनकी उल्लेखनीय कृतियाँ 'तिसटि्ठमहापुरिस गुणालंकार महापुराण' तथा 'णायकुमार चरिउ' (नागकुमार चरित) हैं।

इनकी प्रथम कृति 'तिसटि्ठमहापुरिस गुणालंकार महापुराण' दो भागों में विभाजित है- आदि पुराण एवं उत्तर पुराण, ये दोनों भाग तीन खंडों में विभक्त हैं। आदि पुराण खंड में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव, तेईस तीर्थंकरों एवं भरत के चरित का वर्णन है। उत्तरपुराण खंड में रामायण तथा महाभारत की कथा वर्णित है। 'रामायण' की कथा वाले भाग को 'पउम चरिउ' तथा महाभारत की कथा को 'हरिवंश पुराण' कहा गया है। कवि ने स्वयं अपने इस 'महापुराण' को महाकाव्य कहा है। यह ग्रंथ अपभ्रंश में रचित है तथा अनेक कथाओं से युक्त है। इसका कथा का फलक अत्यंत विस्तृत है। कवि की रचना शैली अलंकृत एवं क्लिष्ट है। इस ग्रंथ में मुहावरों एवं लोकोक्तियों का भी यथानुकूल प्रयोग किया गया है।

'णायकुमार चरिउ' नौ संधियों में विभक्त एक चरित काव्य है। इस कृति में नाग कुमार की कथा के माध्यम से श्रुत पंचमी के व्रत का महत्व बताया गया है। पूर्व जन्म में नाग कुमार ने इस व्रत का अनुष्ठान किया जिसके फलस्वरूप उसने 24 कामदेवों में से एक के रूप में जन्म लिया। यह कृति भी अपभ्रंश भाषा में रचित है तथा इसमें अलौकिक कार्यों एवं चमत्कारों का बहुत अधिक वर्णन है।

इन दोनों कवियों द्वारा रचित ग्रंथों के अतिरिक्त मेरुतुंग की 'प्रबंधचिंतामणि', मुनि रामसिंह की 'पाहुड़ दोहा', धन पाल की 'भविसयत्त कहा' (भविष्यदत्त कथा) आदि भी जैन साहित्य की उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

महत्व- अपभ्रंश साहित्य की समृद्धि तथा हिंदी भाषा के विकास में जैन कवियों का उल्लेखनीय स्थान है। वस्तुतः अपभ्रंश ने हिंदी भाषा की पूर्व-पीठिका के रूप में कार्य किया। हिंदी के प्रारंभिक स्वरूप को प्रारंभ करने में इस साहित्य का सर्वाधिक योगदान रहा। जैन रहस्यवादी साहित्य की भाषा परिनिष्ठित तथा साहित्यिक अपभ्रंश थी। साथ ही अपभ्रंश के बाद की विकसित होती लोकभाषा में भी जैन पुराण साहित्य तथा चरित काव्य की रचना हुई। जिसका प्रभाव परवर्ती साहित्य की भाषा पर पड़ा।

बोध प्रश्न

3) निम्नलिखित कथनों में से सही कथनों पर सही (✓) का निशान लगाइए।

क) जैन धर्म के प्रर्वतक महावीर स्वामी थे।

ख) पुष्पदंत ने 'रिटठ्णेमि चरिउ' की रचना की।

ग) स्वयंभू को अपभ्रंश का प्रथम जैन कवि माना जाता है।

4) रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

क) णायकुमार चरिउ............................संधियों में विभक्त है।

ख) पउम चरिउ में...................कथा है तथा रिट्ठणेमि चरिउ में.............कथा।

ग) जैन संप्रदायों में 'दया, करुणा, त्याग और...................' पर अधिक बल दिया गया है।

5) पुष्पदंत द्वारा रचित 'तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकार महापुराण' का परिचय पाँच पंक्तियों में दीजिए :

....

....

....

....

....

....

4.3 रासो काव्य

वीरगाथात्मक रासो कृतियाँ उन चारण कवियों द्वारा रचित हैं जो किसी राजा के आश्रित तथा दरबारी कवि थे। उन्होंने आश्रयदाता की प्रशस्ति हेतु काव्य रचना की। इनका काव्य अत्युक्तिपूर्ण वर्णनों एवं काल्पनिक घटनाओं से भरा हुआ है। अतः इनमें ऐतिहासिक तथ्यों का अभाव है। वस्तुतः ये ऐतिहासिक रचनाएँ नहीं हैं अपितु काव्य कृतियाँ हैं। धार्मिक रासो काव्य धर्मपरक घटनाओं एवं उपदेशों को आधार बनाकर लिखे गए हैं। यद्यपि इनमें भी वीर रस द्रष्टव्य है परंतु इनका अंत शांत रस में ही हुआ है। शृंगारपरक रासो कृतियाँ नायक-नायिका के वियोग, संदेश प्रेषण तथा पुनर्मिलन से संबद्ध हैं।

इस इकाई में हम उपर्युक्त तीनों वर्गों की प्रमुख कृतियों तथा उनकी भाषा एवं कथ्य की चर्चा करेंगे।

व्युत्पत्ति

'रासो' शब्द का प्रयोग मूलतः राजस्थानी और ब्रजभाषा में हुआ है। राजस्थानी में युद्ध या कलह के रूप में इसका व्यवहार हुआ जबकि ब्रजभाषा में रासो को काव्य का एक विशिष्ट रूप माना गया। रासो से मिलते-जुलते कुछ अन्य शब्दों के प्रयोग भी साहित्य में दिखाई देते हैं, यथा-रासक, रासौ, रसायण इत्यादि। कुछ विद्वानों ने रस से रासो की व्युत्पत्ति स्वीकार की है। हिंदी के प्रसिद्ध आलोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने रासो की उत्पत्ति 'रसायण' शब्द से मानी है।

अनेक विद्वानों ने यह माना है कि रासो का विकास 'रास' और 'रासक' शब्द से हुआ। 'रास' एक प्राचीन नृत्य रहा है जो कृष्ण लीला से संबद्ध था।

इस संबंध में आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी का मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है। उन्होंने 'रास' या 'रासक' से रासो की व्युत्पत्ति स्वीकारा है। उनके अनुसार प्राचीन राजस्थानी तथा अपभ्रंश में 'रासक' का ही अगला रूप 'रासो' हो गया जिसमें मूलतः युद्ध संबंधी वर्णन प्रस्तुत किए जाते थे।

स्वरूप

अब तक के उपलब्ध आदिकालीन 'रासो साहित्य' के अनेक रूपों का परिचय मिलता है। कहीं तो इसमें धार्मिक दृष्टि की प्रधानता है तथा कहीं वह वीरगाथाओं के रूप में रचित है। यद्यपि कुछ जैन रासो काव्यों में भी चरित नायक के शौर्य एवं पराक्रम का वर्णन किया गया है परंतु उन कृतियों की समाप्ति अंततः वैराग्य या शांत रस में हुई है। उपर्युक्त दोनों विषयों से अलग हटकर कुछ कवियों ने श्रृंगारपरक रासो काव्य की भी रचना की, जिनकी कथावस्तु प्रेम, वियोग तथा पुनर्मिलन पर आधारित है।

'रासो काव्य' कृतियों के इस वैविध्य को देखते हुए काव्य विषय की दृष्टि से इन्हें प्रमुखतः तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं:

1) वीरगाथात्मक रासो काव्य

2) श्रृंगारपरक रासो काव्य

3) धार्मिक एवं उपदेशमूलक रासो काव्य

प्रथम वर्ग के अंतर्गत उन वीरगाथात्मक कृतियों को लिया जाता है जो 'रासो' के नाम से रचित हैं। ये कृतियाँ मूलतः प्रशस्ति प्रधान चरित काव्य हैं। इस वर्ग के कवियों के अंतर्गत उन आश्रित कवियों का उल्लेख किया जाता है जिनका उद्देश्य अपने आश्रयदाता राजा के चरित्र का गान करना तथा उनके शौर्य का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन करना था। वीरगाथात्मक रासो काव्य की प्रमुख कृतियाँ – महाकवि चंदवरदाई द्वारा रचित 'पृथ्वीराज रासो', शार्गंधर कृत 'हम्मीर रासो', दलपति विजय कृत 'खुमाण रासो', जगनिक कृत 'परमाल रासो', नल्हसिंह भाट कृत 'विजयपाल रासो' हैं।

द्वितीय वर्ग श्रृंगारपरक रासो काव्यों का है। इस वर्ग के अंतर्गत वे गेय रचनाएँ आती हैं जिनका मूल विषय प्रेम तथा श्रृंगार रहा है। इस वर्ग की प्रमुख रचनाएँ अब्दुर्रहमान कृत 'संदेश रासक', नरपति नाल्ह कृत 'बीसलदेव रासो' तथा 'मुंज रासो' हैं। 'मुंज रासो' के रचयिता का नाम अज्ञात है।

तृतीय वर्ग मुख्यतः जैन आचार्यों द्वारा रचित 'रासो कृतियों' पर आधारित है। इन ग्रंथों में धार्मिक दृष्टि की प्रधानता है तथा धर्म से संबद्ध नीति एवं उपदेशों का अंकन है। इस वर्ग के अंतर्गत आने वाली रचनाएँ जिनदत्त सूरि कृत 'उपदेश रसायन रास', कवि आसगु कृत 'चंदनबाला रास', जिनधर्म सूरि कृत 'स्थूलिभद्र रास', आचार्य शालिभद्र सूरि कृत 'भरतेश्वर बाहुबलि रास', विजयसेन कृत 'रेवंतगिरि रास' आदि हैं।

इन वर्गों के प्रमुख ग्रंथों की विस्तारपूर्वक चर्चा हम आगे करेंगे।

बोध प्रश्न

6) निम्नलिखित में से सही उत्तर का चुनाव करते हुए रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

क) आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'रासो' की व्युत्पत्ति .... शब्द से मानी है।

i) रास

ii) रसायण

iii) रासक

ख) ....'स्थूलिभद्र रास' के रचयिता है।

i) कवि आसगु

ii) जिनधर्म सूरि

iii) जिनदत्त सूरि

7) धार्मिक उपदेशपरक रासो काव्य के अंतर्गत आने वाली प्रमुख तीन कृतियों के नाम बताइए :

....

....

....

....

4.4 प्रमुख रासो कृतियाँ

इससे पूर्व हमने रासो काव्य के स्वरूप पर चर्चा की है तथा इन्हें तीन वर्गों में विभक्त किया है। हम इन तीनों वर्गों वीरगाथात्मक, श्रृंगारिक तथा धार्मिक उपदेशपरक रासो काव्यवर्ग के अंतर्गत आने वाली प्रमुख कृतियों का विवेचन करेंगे।

4.4.1 वीरगाथात्मक रासो काव्य

आदिकालीन काव्य की विशेष प्रवृत्ति वीरगाथात्मक काव्य लेखन थी। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने तो इसे प्रधान प्रवृत्ति मान कर इस काल का नामकरण ही 'वीरगाथा काल' किया था। वस्तुतः वीर काव्यों के रचयिता चारण अथवा 'भाट' थे जो किसी राजा विशेष के आश्रित कवि होते थे। अतः उनकी काव्य रचना का उद्देश्य ही अपने आश्रयदाता राजा के चरित्र तथा उसके शौर्य एवं पराक्रम का अन्य राजाओं की तुलना में अत्युक्तिपूर्ण वर्णन करना था। इसी कारण इनके काव्य में काल्पनिक तत्वों का भी समावेश हो गया तथा ऐतिहासिकता की रक्षा नहीं हो पाई।

यद्यपि इन रासो ग्रंथों की प्रामाणिकता पर विद्वानों ने संदेह व्यक्त किया है। इसका कारण यह है कि इनमें से कई कृतियाँ तो उपलब्ध ही नहीं हैं, जैसे-हम्मीर रासो तथा परमाल रासो। इन दोनों ग्रंथों की कोई प्रति अब तक उपलब्ध नहीं है। 'प्राकृत पैंगलम' में उपस्थित केवल आठ छंदों के आधार पर ही हम्मीर रासो को 'रासो कृति' स्वीकार किया गया। इसी प्रकार परमाल रासो (आल्हा खंड) का प्रकाशन भी आल्हा गायकों द्वारा गाए गए पद्यों के आधार पर किया गया। समय-समय पर विद्वानों ने इन रासो ग्रंथों की प्रामाणिकता पर प्रश्न चिह्न लगाए। कभी इनके रचनाकाल को लेकर विवाद उठा तथा कभी भाषा को लेकर

इस विवाद का कारण भाषा में विविधिता तथा ऐतिहासिक तिथियों से मेल न खाती घटनाएँ थीं। यद्यपि ये ग्रंथ पूर्णतया प्रामाणिक तो नहीं कहे जा सकते परंतु इन ग्रंथों के कुछ अंशों को प्रामाणिक तथा कुछ को प्रक्षिप्त (बाद में जोड़ा गया) कहा जा सकता है। इन ग्रंथों की भाषा को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि इन ग्रंथों में आगे चलकर प्रत्येक काल के अनुसार भाषागत परिवर्तन होते रहे तथा प्रक्षिप्त अंश जुड़ते चले गए।

यहाँ हम कुछ प्रमुख रासो कृतियों का ही विवेचन करेंगे। जिन वीरगाथात्मक रासो ग्रंथों की चर्चा यहाँ हम करेंगे वे हैं-पृथ्वीराज रासो, हम्मीर रासो, परमाल रासो, विजयपाल रासो तथा खुमाण रासो।

पृथ्वीराज रासो- रासो काव्य परंपरा का प्रतिनिधि एवं सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ पृथ्वीराज रासो है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसे हिंदी का प्रथम महाकाव्य भी स्वीकार किया है। इसके कुछ अंशों का अनुवाद कर्नल टॉड तथा डॉ. हार्नले ने किया है। इस महाकाव्य के रचयिता चंदबरदाई हैं जो दिल्ली के शासक पृथ्वीराज चौहान के सामंत तथा राजकवि थे। कहा जाता है कि चंदबरदाई एक मित्र की भाँति सदैव पृथ्वीराज के साथ रहते थे। अतएव उन्होंने इस कृति में जो भी वर्णन किया है वह उनके द्वारा देखा तथा अनुभव किया हुआ था।

चंदबरदाई को हिंदी का प्रथम महाकवि तथा उनकी कृति को हिंदी का प्रथम महाकाव्य माना जाता है। यह प्रबंधकाव्य की दृष्टि से एक श्रेष्ठ रचना है। मूलतः यह ग्रंथ एक चरितकाव्य है जिसके अंतर्गत इस कृति के चरित नायक पृथ्वीराज चौहान का जीवन वृत्त प्रस्तुत किया है। इस ग्रंथ के प्रारंभ में उन सभी नियमों का पालन किया गया है जो परंपरागत शास्त्रीय ढंग से ग्रंथ के प्रारंभ में प्रस्तुत किए जाते थे जैसे मंगलाचरण, विनय, सज्जन प्रशंसा, रचना का उद्देश्य आदि।

इस ग्रंथ के अलग-अलग चार संस्करण मिलते हैं-बृहत, मध्यम, लघु तथा लघुतम। बृहत संस्करण में ढाई हजार पृष्ठ हैं तथा यह उप-समयों में विभक्त है। इसमें शहाबुद्दीन गोरी, जयचंद, परमाल, तथा मेवातियों आदि से किए गए पृथ्वीराज के अनेक युद्धों का वर्णन है तथा उनके अनेक विवाहों की कथा है। इन विवाहों में संयोगिता स्वयंवर, शशिवृता विवाह आदि प्रमुख हैं।

भावपक्ष की दृष्टि से इसकी सबसे प्रभावशाली विशेषता यह है कि इसमें मार्मिक प्रसंगों का अत्यधिक स्वाभाविक वर्णन हुआ है। रस की दृष्टि से यह काव्य युद्ध प्रधान वीर काव्य है। युद्ध वर्णनों में कवि ने पृथ्वीराज के युद्ध कौशल, शौर्य एवं पराक्रम का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन किया है। शहाबुद्दीन की सेना के साथ हुए पृथ्वीराज के युद्ध का वर्णन करते हुए कवि पृथ्वीराज के युद्ध कौशल की विशेषता बताते हुए कहते हैं :

> थकि रहे सूर कौतिग गिगन, रगन-मगर भई श्रोन धर।
> हदि हरीष वीर जग्गे हुलस, हुरेउ रंगि नवनत्त वर।।

अर्थात पृथ्वीराज चौहान के युद्ध कौशल एवं वीरता को देखकर सूर्य भी स्तंभित होकर ठहर गया। इस युद्ध में हुए नरसंहार से सारी धरती रक्त से भर गई। ऐसे युद्ध को देखकर वीर योद्धा उल्लास से भर उठे तथा उनके चेहरों पर प्रसन्नता से लालिमा छा गई।

वीर रस के साथ रौद्र रस का भी अत्यधिक प्रभावशाली वर्णन इस कृति में हुआ है। साथ ही श्रृंगार रस के संयोग पक्ष का चित्रण भी यहाँ दिखाई देता है।

इस ग्रंथ में वर्णनों की प्रधानता है। युद्ध वर्णन, विवाह वर्णन, नगर-वर्णन तथा नख-सिख वर्णन आदि का कुशल चित्रण कवि ने किया है। शशिवृता के सौंदर्य का वर्णन करते हुए कवि कहता है :

चित्ररेष बाला विचित्र, चंद्री चंद्रकानन।
स्वर्ग मग्ग उत्तरी, चित्र पुत्तरि परमानन।।

शशिवृता चित्ररेखा (अप्सरा) के समान विचित्र एवं अत्यंत सुंदर है। उसका मुख चंद्र के समान सुंदर है तथा शरीर पर चंद्र सी कांति है। ऐसा लगता है मानो वह स्वर्गलोक के मार्ग से यहाँ उतर आई है। वह किसी चित्र में अंकित पुतली की भाँति सुंदर है।

पृथ्वीराज रासो की भाषा मूलतः ब्रजभाषा का वह रूप प्रतीत होता है जिसमें राजस्थानी बोली का मिश्रण है। इसे पिंगल कहते हैं। इस कृति की भाषा में अनेक भाषा के शब्द परिलक्षित होते हैं अतः रासो की भाषा को शुद्ध साहित्यिक भाषा नहीं माना जाता। वस्तुतः इसकी भाषा में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी, पंजाबी, अरबी, फारसी और ब्रजभाषा के शब्दों का सुंदर सम्मिश्रण दिखाई देता है।

छंदों की दृष्टि से इस ग्रंथ में वैविध्य है। इस कृति में मूलतः गाथा, कवित्त, दूहा और सह्रक छंदों की प्रधानता है। कहीं-कहीं एक ही वर्णन में अनेक छंद दिखाई पड़ते हैं। कवि ने संपूर्ण काव्य में लगभग 68 छंदों का प्रयोग किया है। काव्य शैली की दृष्टि से कवि ने ओज और शक्ति प्रदर्शन को प्रमुखता दी है। इसीलिए कहा जा सकता है कि रासो की काव्य शैली स्वाभाविक एवं वीर, ओज, श्रृंगार तथा माधुर्य गुण से युक्त है।

परमाल रासो- परमाल रासो को 'आल्हा खंड' के नाम से भी जाना जाता है। जिसे फर्रूखाबाद के कलक्टर चार्ल्स इलियट ने लोक गीतों में प्रचलित छंदों के आधार पर छपवाया। वस्तुतः 'परमाल रासो' लोक गीत शैली में लिखा गया एक वीरकाव्य है। नागरी प्रचारिणी सभा से इस काव्य ग्रंथ का प्रकाशन डॉ.श्यामसुंदर दास ने कराया। परमाल रासो के रचयिता के रूप में जगनिक का नाम लिया जाता है। जगनिक कालिंजर के शासक परमर्दिदेव के आश्रित कवि थे। इस काव्य ग्रंथ में जगनिक ने पृथ्वीराज चौहान तथा परमर्दिदेव के मध्य हुए युद्ध का वर्णन किया है। परमर्दिदेव का ही अन्य नाम परमाल मिलता है। अनुमान लगाया जाता है कि इसी आधार पर इस कृति का नाम 'परमाल रासो' रखा गया होगा।

इस कृति में परमार्दिदेव के दो सामंतों आल्हा और ऊदल के भी वीर चरित्र का विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। वीर भाव का जितना प्रभावशाली रूप इस कृति में दिखाई देता है उतना अन्य में नहीं। इस ग्रंथ का सर्वश्रेष्ठ गुण इसमें निहित गेयता है। गाँव में टोलियों में गायक इसे गा-गाकर लोगों का मनोरंजन करते हैं।

यह ग्रंथ 36 खंडों में विभक्त है। इस कृति में सोरठा, दोहा, भुजंग, प्रयाग, छप्पय, कुंडलिया, अरिल्ल, त्रोटक, गाथा, हरिगीतिका आदि छंदों का प्रयोग किया है। इसकी गेयता के कारण इसे लोक गाथा की शैली में रखा जाता है। कुछ आलोचक इसे आल्हा शैली में लिखा गया भी स्वीकार करते हैं।

खुमाण रासो- 'खुमाण रासो' के रचयिता 'दलपति विजय' हैं। इस काव्य ग्रंथ में मेवाड़ के महाराजाओं बाप्पा रावल से महाराजा राजसिंह तक का विस्तृत वर्णन है। इनमें प्रमुख रूप से राणा खुमाण का चरित वर्णन कवि ने अधिक विस्तार से किया है।

इस ग्रंथ की भाषा डिंगल है। इसकी घटनाएँ काल्पनिक हैं तथा उनमें आलौकिक तत्वों का समावेश है।

ऐसा प्रतीत होता है कि खुमाण रासो महाराजा खुमाण के वंश के इतिहास को ध्यान में रखकर लिखा गया होगा। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसका रचनाकाल 9वीं शताब्दी के आरंभ में माना है।

हम्मीर रासो- यह ग्रंथ कवि शारङ्गधर द्वारा प्रणीत है। यद्यपि यह रचना उपलब्ध नहीं है परंतु विविध साहित्य के इतिहासों में इस कृति का उल्लेख मिलता है। हम्मीर रासो के केवल आठ पद प्राकृत पैंगलम में विद्यमान हैं। इससे स्पष्ट होता है कि यह उस काल की प्रचलित भाषा में रचित एक वीरगाथात्मक रासो ग्रंथ रहा होगा। जो पद 'प्राकृत पैंगलम' में प्राप्त होते हैं उनके आधार पर इसकी भाषा पर अपभ्रंश का प्रभाव माना जाता है। प्रत्येक पद का छंद अलग है। अतः ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि विविध छंदों में इस मूल ग्रंथ की रचना हुई होगी।

उपलब्ध पदों की भाषा तथा वर्ण्य विषय की दृष्टि से यह कृति 14वीं शताब्दी से पूर्व की रचना स्वीकार की जाती है। इस कृति में रणथम्भौर के शासक हम्मीर की प्रशस्ति की गई है।

विजयपालरासो- विजयपाल रासो का रचयिता 'नल्हसिंह भाट' को स्वीकार किया जाता है। इस ग्रंथ के चरितनायक राजा विजयपाल हैं जो विजयगढ़ (करौली राज्य) के शासक थे। इनका काल 1050 ई. के लगभग है। नल्हसिंह भाट को इन्हीं का आश्रित कवि माना जाता है।

इस कृति के अब तक केवल 42 छंद ही प्राप्त हुए हैं। इस प्रबंध काव्य में विजयपाल के शौर्य एवं पराक्रम का वर्णन है। इस कृति के रचनाकार ने पंगराजा एवं विजयपाल सिंह के मध्य हुए युद्ध का मुख्य रूप से वर्णन किया है।

काव्य रूप की दृष्टि से इसे प्रबंध काव्य की कोटि में रखा जाता है। इसकी लिखित प्रति अभी तक उपलब्ध नहीं है अतः मौखिक छंदों के आधार पर ही इसकी भाषा के संबंध में जानकारी प्राप्त हुई। डॉ. माता प्रसाद गुप्त ने इसकी भाषा ब्रज मानी है।

बोध प्रश्न

8) रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिएः

   क) पृथ्वीराज रासो का चरितनायक......................है।

   ख) परमाल रासो के रचयिता.....................हैं।

   ग) विजयपाल रासो की भाषा......................मानी जाती है।

9) निम्नलिखित कथनों में से सही कथन पर (✓) का निशान लगाएँः

   क) खुमाण रासो की भाषा डिंगल है।

   ख) परमाल रासो के आठ पद्य प्राकृत पैंगलम में विद्यमान हैं।

10) पृथ्वीराज रासो की भाषा का विवेचन चार पंक्तियों में कीजिए :

....

....

....

11) परमाल रासो की कथावस्तु का मूल विषय बताइए। इसके अन्य नाम की चर्चा कीजिए :

....

....

....

....

4.4.2 शृंगारपरक रासो काव्य

अब हम जिन रचनाओं का परिचय देने जा रहे हैं उनमें वीर रस तो है परंतु शृंगार हावी हो गया है। इन ग्रंथों में शृंगार के वियोग तथा संयोग दोनों ही पक्षों का चित्रण है। इन कृतियों का अंत नायक-नायिक के पुनर्मिलन से हुआ है। इस वर्ग में हम जिन दो प्रमुख कृतियों की चर्चा करेंगे वे हैं-संदेश रासक तथा बीसलदेव रासो। इन रचनाओं की विशेषता यह है कि इन दोनों कृतियों में संदेश परंपरा का निर्वाह किया गया। यह परंपरा परवर्ती साहित्य में भी द्रष्टव्य है जिनमें जायसी का पद्मावत उल्लेखनीय है। संस्कृत साहित्य में कालिदास ने मेघदूत में इसी परंपरा का निर्वाह किया था। आइए हम इन कृतियों के विषय में जानकारी प्राप्त करें।

संदेश रासक- संदेश रासक 12वीं शताब्दी में रचित एक अपभ्रंश रचना है। यह ग्रंथ अद्दहमाण (अब्दुल रहमान) द्वारा रचित है। इसमें 223 पद्य हैं तथा यह तीन प्रक्रमों में विभक्त है।

इस कृति में विजय नगर में रहने वाली एक विरहिणी नायिका की कथा वर्णित है जिसका पति खम्भात (गुजरात) चला गया है। विरहिणी नायिका खम्भात जाने वाले एक पथिक के द्वारा अपने पति को संदेश भेजना चाहती है। वह चलने को उद्यत होते हुए पथिक को बार-बार रोककर अपना करुण संदेश देती है। नायिका पथिक से षट्ऋतुओं में अपने विरह से उत्पन्न दुख का वर्णन भी करती है। अंततः जब नायिका पथिक को विदा करती है तो दूसरी दिशा से उसका पति आता दृष्टिगत होता है और वह आनंद विभोर हो उठती है। अंत में कवि ने अपनी इस रचना को पढ़ने-सुनने वालों की कार्यसिद्धि की मंगलकामना करते हुए कृति समाप्त की है।

'संदेश रासक' एक खंड काव्य है। इस में 22 प्रकार के छंदों का प्रयोग हुआ है परंतु इसका मुख्य छंद 'रासा' है।

इस कृति में शृंगार रस के विरह पक्ष का अंकन प्रमुख रूप से किया गया है। विरहिणी नायिका की दीन-हीन दशा तथा भाव विह्वलता का चित्रण कवि ने बखूबी किया है।

नायिका स्वप्न में पति से साक्षात्कार करती है तथा जगने पर उसे जब वस्तुस्थिति का पता चलता है तो वह अत्यंत दुःखी होकर कह उठती है :

जइ ठाहु णिण्गउ जीउ पावबंधिहि जड़िउ
हियउ न किण किरि फुट्ट णाइ वज्जिहि थडिउ

अर्थात् यदि किसी कारणवश मेरे प्राण नहीं निकले तो अवश्य ही किसी पाप के बंधन से जड़ होकर रह गए। पति के न होने पर मेरा हृदय फट क्यों नहीं गया। मेरा हृदय तो मानो वज्र का ही बना हुआ लगता है।

इस कृति में कृतिकार ने संदेश परंपरा का निर्वाह किया है तथा इसका अंत सुखद है। ग्रंथ की समाप्ति नाटकीय ढंग से नायक-नायिका के पुनर्मिलन से हुई है।

बीसलदेव रासो- इस कृति के रचयिता नरपति नाल्ह हैं। इस ग्रंथ का रचनाकाल 1155 ई. माना जाता है। इसके चरित नायक विग्रहराज तृतीय हैं।

इस कृति में चौहान राजा विग्रहराज (बीसलदेव) तथा भोज परमार की पुत्री राजमती के विवाह तथा वियोग का वर्णन है। राजा बीसलदेव अपनी नवविवाहिता रानी राजमती के व्यंग्य बाणों से रुष्ट होकर उड़ीसा राज्य चला जाता है तथा बारह वर्ष तक लौटकर नहीं आता। पति के वियोग से अत्यंत दुःखित रानी एक पंडित द्वारा बीसलदेव को संदेश भेजती है। अंत में बीसलदेव के लौट आने पर दोनों का पुनर्मिलन होता है।

यह रचना चार खंडों में विभक्त है तथा इसमें कुल 128 छंद हैं। इसकी विशेषता यह है कि इसमें आदि से अंत तक एक ही छंद का निर्वाह हुआ है। यह गेय काव्य के रूप में रचित है तथा इसकी शैली वर्णनात्मक है।

यह कृति मूलतः एक विरह काव्य है। कवि ने रानी के विरह को अत्यधिक विस्तारपूर्वक वर्णित किया है। उसे नारी के विवश जीवन से सहानुभूति है तथा वह कहता है :

> त्री जनम कांई दियो हो महेस?
> अवर जनम थारे घणा हो नरेस!

अर्थात हे महेस! तुमने मुझे स्त्री का जन्म क्यों दिया। तुम्हारे पास (मुझे देने के लिए) और भी तो जन्म थे।

संदेश रासक की संदेश परंपरा का निर्वाह करते हुए इस कृति में भी कवि ने रानी राजमती द्वारा अपने पति को वापस लौटने का संदेश भिजवाया है।

भाषा की दृष्टि से इस कृति का अपना अलग महत्व है। इस की भाषा उस युग की भाषा का संधिस्थल है। इसका कारण यह है कि इसमें अपभ्रंश के साथ-साथ पुरानी हिंदी की झलक भी मिल जाती है।

स्पष्टतः इन रचनाओं में श्रृंगार का सफल निरूपण किया गया है। अब हम जिस वर्ग की रचनाओं का विवेचन करेंगे वह धार्मिक कथाओं से संबद्ध हैं। यद्यपि इनमें से कुछ कृतियों में वीर रस का भी परिपाक है तथापि मूल कथ्य धर्म कथा कहना ही है।

4.4.3 धार्मिक एवं उपदेशमूलक रासो काव्य

इस वर्ग के अंतर्गत वे ग्रंथ आते हैं जो जैन कवियों द्वारा 'रास' या 'रासो' के नाम से लिखे गए हैं। इनकी विषयवस्तु धर्म तथा उपदेश पर आधारित है। यद्यपि इनमें वीर रस का निर्वाह है परंतु इन सभी ग्रंथों का अंत शांत रस में हुआ है जैसे उपदेश रसायन रास में धर्मोपदेश है। भरतेश्वर बाहुबलि रास में ऋषभदेव के पुत्रों बाहुबलि तथा भरत के युद्ध की कथा तथा अंत में बाहुबलि द्वारा वैराग्य लेने की कथा है। इस प्रकार इन ग्रंथों में वीरगाथात्मक रासो काव्य कृतियों के समान वीर रस की प्रधानता नहीं है। इन ग्रंथों के रचयिता का उद्देश्य भी प्रशस्तिमूलक चरितकाव्य लिखना नहीं है अपितु धर्मोपदेश का कथा के द्वारा प्रतिपादन करना है। इस वर्ग के अंतर्गत हम जिन प्रमुख ग्रंथों की चर्चा करेंगे, वे हैं-उपदेश रसायन रास, भरतेश्वर बाहुबलि रास तथा चंदनबाला रास।

उपदेश रसायन रास- इस कृति के रचयिता जिनदत्त सूरि हैं। इसका रचनाकाल 1143 ई. के लगभग माना जाता है। इसमें निहित पद्यों की संख्या 80 मानी जाती है। यह एक धार्मिक रचना है तथा इस कृति के रचयिता का उद्देश्य ही धर्म का उपदेश देना है। कवि

मानता है कि गुरु के माध्यम से ही आत्मा का उद्धार हो सकता है। गुरु के द्वारा ही भवसागर को पार किया जा सकता है। गुरु महिमा के साथ-साथ इस कृति में गृहस्थों के लिए भी अनेक उपदेश प्रस्तुत किए गए हैं।

यह एक गीत काव्य है। इसमें चउपई छंद का प्रयोग हुआ है। इस ग्रंथ की भाषा अपभ्रंश है।

भरतेश्वर बाहुबलि रास- यह ग्रंथ आचार्य शालिभद्र सूरि द्वारा रचित है। इस कृति का प्रणयन 12वीं शताब्दी में माना जाता है। मुनि जिनविजय इस कृति को जैन साहित्य की रास परंपरा की प्रवर्तक रचना मानते हैं।

इस ग्रंथ की कथा जैन साहित्य की एक अति प्रचलित घटना पर आधारित है तथा प्रायः सभी जैन पुराणों में उल्लिखित है। इसमें ऋषभदेव के दो पुत्रों भरत तथा बाहुबलि के युद्ध का वर्णन है। वीर रस से प्रारंभ होने पर भी इस कृति का अंत निर्वेद तथा वैराग्य में ही हुआ है। इसकी कथा इस प्रकार है-ऋषभदेव ने अंतिम समय में अपना संपूर्ण राज्य भरत तथा बाहुबलि सहित अपने सौ पुत्रों में बाँट दिया। भरत दिग्विजयी बनना चाहते थे लेकिन बाहुबलि को छोड़कर उनके अन्य सभी भाइयों ने उनकी अधीनता स्वीकार कर ली। भरत तथा बाहुबलि में घोर युद्ध हुआ। युद्ध के दौरान अपने बड़े भाई को मारते हुए बाहुबलि को अत्यंत ग्लानि हुई। उन्होंने राज्य त्याग कर वैराग्य ले लिया और अंत में कैवल्यपद की प्राप्ति की।

इस कृति में वीर रस का भी पर्याप्त वर्णन मिलता है परंतु इसकी समाप्ति शांत रस में हुई है। इसमें 205 छंद हैं। इस कृति की भाषा अपभ्रंश है जिस पर प्राचीन राजस्थानी तथा गुजराती का प्रभाव है। इसमें चउपइ, रास तथा दोहा आदि छंदों का प्रयोग हुआ है।

चंदनबाला रास- इस कृति के लेखक कवि आसगु हैं। इस खंडकाव्य में पैंतीस छंद हैं। इसका रचनाकाल 1200 ई. के लगभग माना जाता है।

इस कृति में राजा दधिवाहन की पुत्री चंदनबाला की करुण कथा है। इस काव्य कृति का अंत चंदनबाला द्वारा भगवान महावीर से दीक्षा लेकर मोक्ष को प्राप्त होने से हुआ है।

यह खंड काव्य अपभ्रंश में रचित है। इसमें चउपइ तथा दूहा छंदों का प्रयोग किया गया है।

बोध प्रश्न

12) उचित शब्द छाँटकर रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए:

क) 'संदेश रासक' के रचयिता........................हैं। (अब्दुर्रहमान, नरपति नाल्ह, जगनिक)

ख) 'बीसलदेव रासो' के चरितनायक..........................हैं। (विग्रहराज चतुर्थ, विग्रहराज तृतीय)

ग) 'संदेश रासक' की भाषा...............................है। (प्राकृत, अपभ्रंश, पुरानी हिन्दी)

घ) चंदनबाला रास एक.......................है। (प्रबंधकाव्य, खंडकाव्य, महाकाव्य, मुक्तक काव्य)

13) 'संदेश रासक' तथा 'बीसलदेव रासो' दोनों कृतियों में किस परंपरा का निर्वाह किया गया है? (एक पंक्ति में)

....

....

14) 'भरतेश्वर-बाहुबलि रास' का जैन रास परंपरा में क्या स्थान है? इसकी भाषा पर चर्चा कीजिए (तीन पंक्तियों में)।

....

....

....

4.5 रासोकाव्य की प्रमुख विशेषताएँ

वीरगाथात्मक रासो काव्य की रचना मूलतः राजस्थान के वीर राजाओं के आश्रित चारण-कवियों ने की। रासो काव्य की विस्तृत जानकारी हम आपको दे चुके हैं। यद्यपि इनमें से कई कृतियाँ अभी तक उपलब्ध नहीं हैं, किंतु उनके प्राप्य अंशों के माध्यम से हम उनकी प्रमुख विशेषताओं का अंकन कर सकते हैं।

4.5.1 ऐतिहासिकता और कल्पना

अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन तथा प्रशस्ति काव्य होने के कारण इनके वर्णनों में ऐतिहासिक तथ्यों की रक्षा नहीं हो पाई है तथा काल्पनिक वर्णनों की अधिकता हो गई। इन वीर गाथाओं में इतिहास तथा कल्पना दोनों का ही समावेश हो गया है। इसका एक कारण वर्णनात्मकता भी थी। वर्णन प्रधान काव्य होने के कारण इन कवियों को सहज ही काल्पनिक घटनाओं और अत्युक्तियों का सहारा लेना पड़ता था। वस्तुतः ये ग्रंथ काव्य ग्रंथ थे अतः कल्पना का समावेश होना स्वाभाविक ही था।

रासो काव्य के रचयिताओं ने अपने कथानक का प्रारंभ तो ऐतिहासिक घटनाओं से किया है परंतु चरित नायक के अलौकिक तथा शौर्यपूर्ण कार्यों का उल्लेख तथा वर्णन करने के लिए इन काव्यों में काल्पनिक घटनाओं तथा ऐसे आख्यानों का अंकन है जिनका इतिहास में उल्लेख नहीं है।

कुछ रासो काव्यों की घटनाएँ भी एक सी होते हुए एक-दूसरे से मेल नहीं खातीं। जैसे उदाहरण के लिए 'परमाल रासो' में चरित नायक राजा परमाल के पृथ्वीराज चौहान द्वारा मार दिए जाने का उल्लेख है जबकि चंद कवि कृत 'पृथ्वीराज रासो' में उसे केवल दंड देकर छोड़ने का अंकन है। यद्यपि, परमाल तथा पृथ्वीराज चौहान के मध्य युद्ध होने की घटना ऐतिहासिक ही है।

4.5.2 प्रशस्ति काव्य

रासो काव्य का प्रतिपाद्य विषय आश्रयदाता राजा के शौर्य तथा वीरता का यशोगान करना था। रासो काव्य के रचयिताओं ने अपने चरित नायकों के युद्ध कौशल तथा वीरता का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है। उन्होंने अपने वर्णनों में चरितनायक के समक्ष दूसरे राजाओं की हीनता का भी अंकन किया है। इन कवियों ने अपने काव्य का आदर्श रण क्षेत्र में अपने नायक राजा की वीरता के वर्णन को ही बनाया है क्योंकि आश्रयदाता को प्रसन्न रखना तथा युद्ध क्षेत्र में ओजपूर्ण वर्णनों द्वारा वीरता का संचार करना इनका कर्तव्य था।

4.5.3 युद्ध और प्रेम

रासो काव्य के चरित नायकों के युद्ध अधिकांशतः अपने राज्य का विस्तार करने के कारण ही होते थे। इन कृतियों में श्रृंगार तथा वीर दोनों रसों का सुंदर परिपाक हुआ है। उदाहरण के लिए, 'पृथ्वीराज रासो' के चरित नायक पृथ्वीराज चौहान वीर योद्धा होने के साथ-साथ प्रेमी भी हैं। कवि ने युद्ध वर्णनों में पृथ्वीराज की वीरता एवं पराक्रम का चित्रण किया है और दूसरी ओर रूप-सौंदर्य तथा प्रेम का भी सुंदर अंकन किया है।

युद्ध वर्णनों में उन सभी वस्तुओं का विस्तृत वर्णन है जिनका उपयोग युद्ध में होता था। यहाँ तक कि सेना के सेनापतियों के नाम और रूप तक का विवरण इन काव्यों में मिलता है।

प्रेम के अंतर्गत रासो कवियों ने श्रृंगार रस के संयोग तथा वियोग दोनों पक्षों का सुंदर अंकन किया है।

4.5.4 काव्य रूप

रासो काव्य में प्रबंध एवं मुक्तक दोनों ही प्रकार के काव्य रूप द्रष्टव्य हैं। पृथ्वीराज रासो तथा विजयपाल रासो को प्रबंध काव्य की कोटि में रखा जाता है। इनका वर्ण्य विषय विस्तृत है तथा चरित नायक के संपूर्ण जीवन की कथा समेटे है। 'चंदनबाला रास' तथा 'संदेश रासक' एक खंड काव्य है। 'संदेश रासक' में नायिका अपने प्रवासी पति को पथिक द्वारा संदेश भेजती है। गेय काव्य के अंतर्गत 'बीसलदेव रासो' का उल्लेख किया जाता है। इस कृति में आदि से अंत तक एक ही छंद का प्रयोग किया गया है। 'उपेदश रसायन रास' मुक्तक काव्य है। इसमें नीति तथा धर्मोपदेश के पद हैं।

इनके अतिरिक्त लोकगीत शैली में परमाल रासो की रचना हुई। इस ग्रंथ के पदों को आल्हा गायक आज भी टोलियों में गाते हैं। इस काव्य ग्रंथ को आल्ह शैली में रचित भी कहा जाता है।

4.6 अभिव्यंजना पक्ष

अभिव्यंजना पक्ष के अंतर्गत रासो काव्यों के भाषा वैविध्य, उसमें प्रयुक्त अलंकार तथा छंदों का विवेचन करेंगे। रासो काव्यों के विषय वैविध्य को तो आप जान ही चुके हैं। विषय अलग-अलग होने से भाषा में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। चारण कवियों ने वीरगाथात्मक काव्य की रचना की। फलस्वरूप उनके काव्य में कठोर एवं द्वित्वप्रधान शब्दों का प्रचुर प्रयोग किया गया। दूसरी ओर श्रृंगारपरक रासो काव्य के रचयिताओं ने अलंकारों के सौंदर्य के माध्यम से प्रेम तथा वियोग का अंकन किया।

4.6.1 भाषागत विशेषताएँ

रासो काव्यों की भाषा वैविध्यपूर्ण है। यहाँ तक कि एक ही काव्य ग्रंथ में दो भिन्न प्रकार की भाषाओं का संगम दिखाई पड़ता है। इसका कारण यह है कि इन काव्यों में वीर रस के साथ-साथ श्रृंगार रस का भी सम्यक् परिपाक हुआ है।

इस युग में साहित्यिक राजस्थानी भाषा का प्रयोग 'डिंगल' के नाम से काव्य में होता था तथा ब्रज मिश्रित भाषा के साहित्यिक रूप को 'पिंगल' कहते थे। चारण कवियों ने वीरगाथात्मक रासो काव्यों की रचना 'डिंगल' में की है क्योंकि वीर विषय की दृष्टि से यह भाषा अधिक उपयुक्त है। इस भाषा पर संस्कृत, अरबी, फारसी, प्राकृत, पंजाबी, ब्रज तथा

अपभ्रंश का भी प्रभाव दिखाई देता है। उदाहरण के लिए 'पृथ्वीराज रासो' की मूल भाषा पर ब्रज का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है :

हरषत अनंद मन **महि हुलस**, **लै जु** महल भीतर गई।

यहाँ राजकुमारी पद्मावती द्वारा मन में हर्षित होते हुए शुक को भीतर ले जाकर रत्न तथा मणियों से सुशोभित अनुपम पिंजड़े में रखने का वर्णन किया गया है।

इस पंक्ति में ब्रज का सुंदर सम्मिश्रण है। यहाँ मोटे अक्षरों में लिखे शब्द ब्रजभाषा के हैं। साथ ही उस युग में प्रचलित मुहावरों, सूक्तियों आदि का प्रयोग भी रासो काव्य में बहुतायत से किया गया है।

इन कृतियों में तत्सम, तद्भव तथा राजस्थानी एवं ब्रजभाषा के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। **तत्सम शब्द-** धवल, विहंगम, पंचमु, श्रृंगार, खंजन, स्निग्ध, निद्रा, नीर, प्रिय, दंत आदि। **तद्भव शब्द-** दहई, दाह, दुसह, विचितु, अग्गि, चरित, गरब, जोवन, सिणंगार, छिमा, चष, संत आदि।

राजस्थानी भाषा के शब्द- मंडणी, माई, ऊमोछइ, महा, चहुंदिसिधाणा, धणी, दइ, सभातयां, चाल्या, नागफणां, गवरि, कसण आदि।

ब्रजभाषा के शब्द- मनौं, हुलस, हरषत, अनंद, बिगसि, तिय, लै, जु, तिहि, महं, महि आदि।

द्वित्व प्रधान वर्णों का प्रयोग भी वीर रस के वर्णनों में बहुत अधिक स्थानों पर कवियों ने किया है। कुछ शब्द हैं - चहुट्टिय, झप्पय, झट्ट, उट्ठि, बज्जिय, दिट्ठ, अड्डौ, आदि। उदाहरण के लिए 'परमाल रासो' का यह अंश देखिए :

भभक्कै भभक्कै बहै रक्तधारं।
सनक्कै सनक्कै बहै बान भारं।।

यहाँ शब्दों की ध्वनि के माध्यम से कवि ने रक्त के उफनकर बहने का चित्र अंकित कर दिया है।

कवि चंद ने तो पद्मावती के सौंदर्य वर्णन में भी अनेक स्थानों पर द्वित्व वर्णों का प्रयोग किया है। एक उदाहरणः

यह चाहत चष चकित, उह जु **तक्किय झरप्पि** झट।
चंच **चहट्टिय** लोभ, लियो तब गहित अप्प कर।।

अर्थात शुक ने पद्मावती के अरुण अधरों को (बिंब फल जानकर) पकड़ने के लोभ से चोंच चलाई। पद्मावती ने आश्चर्य चकित नेत्रों से उसे देखा तथा अपने हाथ में पकड़ लिया।

वस्तुतः रासो साहित्य की भाषा केवल डिंगल, पिंगल या अपभ्रंश नहीं है अपितु उन में अनेक बोलियों एवं अन्य विविध भाषाओं का सम्मिश्रण है। वीरगाथात्मक रासो काव्य में तो व्याकरण की शुद्धता का प्रायः अभाव ही है क्योंकि चारण कवियों का उद्देश्य अपनी ओज से युक्त कविताओं द्वारा उत्साह का संचार करना तथा अत्युक्तिपूर्ण वर्णनों द्वारा अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करना था। कई स्थानों पर तो उन्होंने कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग भी किया है जिनका कोई अर्थ तो नहीं निकलता परंतु जो वे कहना चाहते हैं उसका सुनने वालों में संचार हो जाता है। जैसे तड़-तत्तरं, कड़-कक्करं, कड़-कक्करं आदि। यहाँ केवल शब्द ध्वनि पर ही जोर दिया गया है, वस्तुतः इन शब्दों का कोई अर्थ नहीं है। दूसरी ओर

श्रृंगारिक रासो काव्यों की भाषा सरल तथा अलंकार युक्त है। उनमें कठोर वर्णों का प्रायः अभाव ही है।

4.6.2 अलंकार

वीरगाथात्मक रासो काव्य में अलंकार का अधिक एवं सटीक प्रयोग किया गया है। ये अलंकार वस्तु तथा रूप की तीव्र व्यंजना करने में पूर्णतया सक्षम हैं। इन कवियों ने कहीं भी पांडित्य प्रदर्शन की चेष्टा नहीं की है। यद्यपि इन कृतियों में प्रायः सभी पारंपरिक अलंकार विद्यमान हैं लेकिन फिर भी इन कृतियों के कथ्य के अनुरूप अत्युक्ति एवं अतिशयोक्ति अलंकारों का प्रयोग आधिकाधिक दिखाई देता हैः

मनहूं कला ससिभान, कला सोलह सो बन्निय।
बाल बैस ससि ता समीप, अमृत रस पिन्निय।।

राजकुमारी पद्मावती के सौंदर्य का वर्णन करते हुए कवि चंदबरदाई कहते हैं कि पद्मावती का सौंदर्य देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो चंद्रमा अपनी सोलह कलाओं से युक्त हो। बाल्यावस्था में ही उसके अपूर्व सौंदर्य को देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो चंद्रमा ने उसी अमृत रस का पान किया है (अर्थात् सौंदर्य प्राप्त किया है) इस अंश में रूपकातिशयोक्ति तथा उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग है।

परमाल रासो में आल्हा ऊदल की विशेषता बताते हुए कवि कहता है :

आल्हा ऊदल की खिचड़ी मां,
परगै सवा लाख मन हींग।

खिचड़ी में सवा लाख मन हींग पड़ना संभव नहीं। यहाँ बात को बढ़ा-चढ़ा कर कहा गया है। अतः यहाँ भी अत्युक्ति अलंकार है।

कवियों द्वारा अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किए जाने के कारण ही इन काव्यों में ऐतिहासिकता की रक्षा भी नहीं हो पाई।

4.6.3 छंद

रासो काव्यों में छंदों का बहुमुखी प्रयोग मिलता है। इन छंदों में दूहा, चउपइ, गाहा या गाथा, रोला, कुंडलिया, उल्लाला, पद्धरि आदि प्रमुख हैं। परमाल रासो (आल्ह खंड) के छंद का तो नाम ही 'आल्हा' पड़ गया है। इस छंद में एक प्रवाह तथा गतिशीलता हैः

बारह बरस लौं कूकर जीए, औ तेरह लौं जिएं सियार।
बरस अठारह छत्री जीएं, आगे जीवन को धिक्कार।।

इसी प्रकार उपदेश रसायन रास में चउपइ, भरतेश्वर बाहुबलि रास में दोहा, रास तथा चउपइ, चंदनबाला रास में चउपइ तथा दूहा, पृथ्वीराज रासो में गाथा, कवित्त तथा दूहा, संदेश रासक में रासा, आदि छंदों का प्रयोग किया गया है।

बोध प्रश्न

15) निम्नलिखित कथनों में कुछ सही हैं कुछ गलत। उचित चिह्न लगाइयेः

क) परमाल रासो को 'आल्ह' शैली में रचित माना जाता है।

ख) चारण कवियों का उद्देश्य श्रृंगारिक रचनाएँ लिखना था।

ग) रासो काव्यों में केवल एक छंद का प्रयोग किया गया है।

घ) रासो काव्य में अनेक बोलियों का सम्मिश्रण भी दिखाई देता है।

16) रासो काव्य की भाषागत विशेषताओं का अंकन पाँच पंक्तियों में कीजिएः

....

....

....

....

....

17) उचित शब्द छाँटकर रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिएः

क) विजयपालरासो..............काव्य है। (प्रबंध, मुक्तक, गीत)

ख) चंदनबाल रास में.......तथा..............छंदों का प्रयोग हुआ है। (दूहा, दोहा, गाहा, चउपइ)

ग) आदिकाल में साहित्यिक राजस्थानी भाषा का प्रयोग..........नाम से होता था। (डिंगल, पिंगल, राजस्थानी)

4.7 आदिकालीन फुटकर साहित्य

इससे पहले हमने जिन प्रवृत्तियों की चर्चा की है वे विशेष विषयों से संबद्ध थे। जैसे नाथ, जैन तथा सिद्ध संप्रदाय का साहित्य धार्मिक विषय से तथा चारण कवियों का वीरगाथात्मक कविता लेखन से। इनके अतिरिक्त एक प्रवृत्ति फुटकर साहित्य की भी थी जिसका साहित्य इन प्रवृत्तियों से इतर था। इस साहित्य के अंतर्गत जनता के मनोरंजन हेतु अमीर खुसरो द्वारा मुकरियों तथा पहेलियों का सृजन किया गया। दूसरी ओर भक्ति एवं श्रृंगार की प्रवृति को लेकर विद्यापति ने साहित्य रचना की। धनपाल नामक जैन कवि ने सामान्य व्यक्ति को काव्य का नायक बनाकर नवीन प्रवृत्ति का प्रारंभ भी किया। अब हम इन विशिष्ट कवियों की चर्चा करेंगे तथा उनके साहित्य पर प्रकाश डालेंगे।

4.7.1 अमीर खुसरो

अमीर खुसरो का आविर्भाव 1255 ई. तथा उनकी मृत्यु अनुमानतः 1325 ई. में हुई। अमीर खुसरो का वास्तविक नाम अबुल हसन था। आदिकाल में खड़ी बोली में काव्य की रचना करने वाले अमीर खुसरो ही सर्वप्रथम कवि थे। उन्हें उर्दू भाषा का भी प्रथम कवि माना जाता है। इसके अतिरिक्त इन्हें अरबी, फारसी, तुर्की आदि भाषाओं का भी अच्छा ज्ञान था। अनेक मसनवियों का प्रणयन इन्होंने फारसी में किया है।

ऐसा माना जाता है कि अमीर खुसरो ने लगभग सौ ग्रंथों की रचना की थी जिनमें से बीस या बाईस ग्रंथ ही प्राप्त होते हैं। उनके उपलब्ध साहित्य में पहेलियाँ, मुकरियाँ, खालिक बारी, दो सुखने, गजल आदि उल्लेखनीय हैं।

बाबू ब्रजरत्न दास ने नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से खुसरो की हिंदी कविताओं के संग्रह का प्रकाशन कराया, जिसमें पहेलियाँ, दो सुखने, मुकरियाँ, ढकोसला आदि संग्रहीत हैं। अमीर खुसरो द्वारा रचित तुर्की, फारसी, अरबी और हिंदी का एक पर्यायकोश भी माना जाता है, इसका प्रकाशन डॉ. श्रीराम शर्मा ने कराया। इस कृति से एक उदाहरण देखिए जिसमें शब्दों के नाम देकर उनका पर्याय लिखा गया है :

वालिद बाप बेटा फर्जन्द।
दुख्तर बेटी सिख है फन्द।।

उन्होंने अपने साहित्य में खड़ी बोली को काव्य भाषा का रूप प्रदान करने का ऐतिहासिक कार्य किया। उनकी एक पहेली तो अत्यंत प्रसिद्ध है, उसका उत्तर आप भी अवश्य जानते होंगेः

एक थाल मोती से भरा, सबके सिर औंधा धरा।
चारों ओर वह थाल फिरे, मोती उससे एक न गिरे।।

(उत्तर- आकाश)

एक अन्य पहेली देखियेः

श्याम बरन की है एक नारी, माथे ऊपर लागे प्यारी।
जो मनुष्य इस अरथ को खोले, कुत्ते की वह बोली बोले।

(उत्तर- भौं)

एक और उदाहरण द्रष्टव्य हैः

बीसों का सिर काट दिया
ना मारा ना खून किया।

(उत्तर- नाखून)

अमीर खुसरो ने मुकरियों की भी रचना की। उनकी मुकरी का एक उद्धरण यहाँ प्रस्तुत हैः

मेरा मोसे सिंगार करावत,
आगे बैठ के मान बढ़ावत
वासे चिक्कन ना कोऊ दीसा
ऐ सखि साजन! ना सखि सीसा।।

अमीर खुसरो ने हास्य एवं विनोद का सृजन करने के लिए चलती भाषा में रचना की। यह अत्यंत साधारण एवं जनजीवन की भाषा थी। किंतु उनके साहित्य में केवल मनोरंजन या विनोद ही नहीं है अपितु जीवन पर गहरा व्यंग्य भी मिलता है।

4.7.2 विद्यापति

विद्यापति का जन्म 1368 ई. में माना जाता है। इनका निवास स्थान दरभंगा जिले का विसपी ग्राम था। विद्यापति को कृष्ण भक्ति काव्य की रचना करने वाला हिंदी का प्रारंभिक कवि स्वीकार किया जाता है। इनके प्रथम आश्रयदाता राजा कीर्ति सिंह थे तथा बाद में ये मिथिला के महाराजा शिव सिंह के आश्रित कवि हुए। रानी लखिमा देवी भी इनकी विशेष भक्त थीं। विद्यापति ने अपने अधिकांश ग्रंथों की रचना संस्कृत में की। इनके द्वारा संस्कृत में रचित ग्रंथों की संख्या 11 मानी जाती है जिनके नाम हैं- शैव सर्वस्वसार, शैव सर्वस्वसार प्रमाणभूत पुराण संग्रह, भूपरिक्रमा, पुरुष परीक्षा, लिखनावली, गंगा वाक्यावली, दान वाक्यावली, विभाग सार, गया पत्रलक, वर्ण कृत्य तथा दुर्गा भक्ति तरंगिणी।

हिंदी साहित्य के अंतर्गत विद्यापति के तीन ग्रंथों का उल्लेख किया जाता है-कीर्तिलता, कीर्तिपताका तथा पदावली। 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' चरितकाव्य तथा 'विद्यापति की पदावली' एक श्रृंगारिक तथा भक्तिपरक रचना है। यहाँ हम उनकी प्रमुख दो कृतियों- कीर्तिलता तथा पदावली की चर्चा करेंगे।

कीर्तिलता- यह कृति ऐतिहासिक चरित काव्य है जिसमें कवि ने राजा कीर्ति सिंह के चरित का वर्णन किया है। माना जाता है कि इस कृति की रचना विद्यापति ने केवल 20 वर्ष की आयु में ही की थी। यह चार पल्लवों में विभक्त है। इसका प्रारंभ राजा कीर्ति सिंह के चरित वर्णन से हुआ है जिसमें उनके दानवीर तथा स्वाभिमानी चरित्र का अंकन है। दूसरे, तीसरे तथा चौथे पल्लव में चरित नायक के शौर्य तथा पराक्रम का विस्तृत वर्णन है।

यह कृति विद्यापति की पहली रचना मानी जाती है। अतः इसका भावपक्ष एवं शिल्प सौंदर्य पदावली की तरह परिमार्जित नहीं है। अपनी इस कृति को कवि ने ऐसी कहणी (कहानी) कहा है जिसके सुनने से पुण्य मिले। भृंग और भृंगी के संवाद द्वारा कहानी को आगे बढ़ाया गया है। यहाँ 'पृथ्वीराज रासो' तथा 'कीर्तिलता' में कुछ समानता दिखाई पड़ती है। 'पृथ्वीराज रासो' में भी शुक-शुकी संवाद द्वारा कथा बढ़ाई गई है।

भाषा की दृष्टि से यह ग्रंथ अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसकी भाषा मैथिल से प्रभावित साहित्यिक अपभ्रंश है जिसे विद्यापति ने 'अवहट्ठ' कहा है। इसमें तत्सम एवं तद्भव शब्दों का बहुलता से प्रयोग है। एक उदाहरण देखिये-युद्ध से भागते हुए शत्रु असलान को छोड़ता हुआ कीर्ति सिंह कहता है :

> जै धके जीवसि जीव सञों जाहि जाहि असलान
> तिहुअण जग्गाई कित्ति नभ तुज्झ दिसउ जिवदान
> जइ रण भग्गसि तइ तोञ काअर।।

(अर्थात् हे असलान, अपना जीवन लेकर जहाँ तक भाग सकते हो भाग जाओ मेरी कीर्ति जग में बनी रहेगी, क्योंकि मैंने तुझे जीवनदान दिया है। परंतु तू कायर है क्योंकि तू रण से भागा है)

इस कृति में कहीं-कहीं गद्य भी द्रष्टव्य है। जहाँ गद्य आया है वहाँ ग्रंथ की भाषा संस्कृत से प्रभावित मैथिल हो गई है तथा तत्सम शब्दों का बाहुल्य हो गया है। पद्य भाग में मैथिल से प्रभावित अपभ्रंश का ही प्रयोग है। साथ ही कृति में अरबी-फारसी के शब्दों का भी प्रयोग किया गया है।

विद्यापति की पदावली- पदावली में विद्यापति के पदों का संग्रह है जो मैथिल भाषा में रचित हैं। वस्तुतः विद्यापति की पदावली के गीतों का सर्वाधिक प्रचार चैतन्य महाप्रभु ने किया था। वे एक भक्त थे तथा भक्ति की धुन में ही इन गीतों को भावविभोर होकर गाया करते थे। विद्यापति के पदों का संग्रह सर्वप्रथम शारदाचरण मित्र ने किया। उसके पश्चात् जार्ज ग्रियर्सन लोगों से सुनकर केवल 82 पद ही संग्रहीत कर सके। बीसवीं शती में रामवृक्ष बेनीपुरी तथा नगेन्द्र नाथ गुप्त आदि ने विद्यापति के पदों का संग्रह करने का उल्लेखनीय कार्य किया। पदावली में विद्यापति ने राधाकृष्ण के प्रेम का श्रृंगारिक चित्रण किया है। इस ग्रंथ के भाव तथा शैली पर 'जयदेव' के 'गीत गोविंद' का प्रभाव स्पष्ट रूप से द्रष्टव्य है। अपने पदों में विद्यापति ने राधा के सौंदर्य, नख-शिख वर्णन, अभिसार, मान तथा राधा-कृष्ण की प्रणय लीला का सुंदर अंकन किया है। राधा के अप्रतिम सौंदर्य का वर्णन करता हुआ कवि कहता है:

> लोल कपोल ललित मनि-कुंडल अधर बिम्ब अध जाई।।
> भौंह भमर, नासापुट सुन्दर से देखि कीर लजाई।।

अर्थात राधा के कपोल (गाल) अत्यधिक सुंदर हैं। उसके मणि जड़ित कुंडल हिल रहे हैं। होठों की रक्तिम आभा देखकर बिंब फल भी शरमा गया है। भौहों ने भ्रमर को नीचा दिखा दिया है तथा नाक के नुकीले सौंदर्य को देखकर तोता भी लजा गया है। यहाँ अनेक

उपमानों द्वारा कवि ने राधा के सौंदर्य का अंकन किया है। कवि ने श्रृंगार के संयोग तथा वियोग दोनों पक्षों का ही सशक्त चित्रण किया है। परंतु संयोग पक्ष का चित्रण करने में कवि का हृदय अधिक रमा है। संयोग श्रृंगार के अंतर्गत कवि ने राधा-कृष्ण के प्रेम, प्रथम मिलन, आदि के सुंदर चित्र अंकित किए हैं।

यद्यपि विद्यापति के इस गीति काव्य के नायक राधा-कृष्ण हैं परंतु यह केवल भक्ति रचना नहीं है। वास्तव में विद्यापति ने राधा-कृष्ण की प्रणय लीला से संबद्ध पदों की रचना श्रृंगार चित्रण को ध्यान में रखकर की है। डॉ.रामकुमार वर्मा विद्यापति की पदावली के संबंध में अपने विचार प्रकट करते हुए कहते हैं - "उन्होंने (विद्यापति) श्रृंगार पर ऐसी लेखनी उठाई है जिससे राधा और कृष्ण के जीवन का तत्व प्रेम के सिवाय कुछ नहीं रह गया है।"

वस्तुतः विद्यापति का ज्ञान अत्यंत व्यापक तथा विस्तृत था। उस युग की प्रमुख प्रवृत्ति वीरगाथात्मक काव्य का प्रणयन तथा आश्रयदाता के चरित्र का अतिशयोक्तिपूर्ण अंकन करना था। कवि विद्यापति ने एक ओर जहाँ कीर्तिलता और कीर्तिपताका की रचना आदिकाल की इस प्रवृत्ति को दृष्टि में रखकर की है वहीं दूसरी ओर आदिकालीन इतिवृत्तात्मक प्रवृत्ति से अलग हट कर श्रृंगारिक पदों का सृजन भी किया। उन्होंने परवर्ती कवियों के लिए कृष्ण भक्तिपरक काव्य रचना का मार्ग प्रशस्त किया। नख-शिख वर्णन की जो परंपरा उन्होंने प्रारंभ की उसे रीति कालीन कवियों ने आगे बढ़ाया। विद्यापति ने अपने पदों को विविध राग-रागिनियों में भी बद्ध किया है। परवर्ती कृष्ण भक्त कवियों ने भी इस परंपरा का अनुसरण करते हुए राग बद्ध पदों की रचना की। मुक्तक काव्य परंपरा का प्रवर्तन भी विद्यापति ने ही किया था। उनके स्फुट पदों का संग्रह ही पदावली है।

4.7.3 भविसयत्त कहा

यह अपभ्रंश में रचित एक कथाकाव्य है। इसमें श्रुत पंचमी के व्रत के महात्म्य का वर्णन है। इस कृति के रचयिता धनपाल हैं। धनपाल जैन धर्म के दिगंबर संप्रदाय में दीक्षित थे। इनका समय 10वीं शताब्दी माना जाता है।

धनपाल की केवल एक ही रचना मिलती है - 'भविसयत्त कहा'। राहुल सांकृत्यायन ने इस कृति का रचनाकाल दसवीं शताब्दी माना है। यह कृति बाईस संधियों में रचित है। इस रचना में हस्तिनापुर के एक दंपति धनपति तथा कमलश्री के पुत्र भविष्य दत की कथा है। इसमें भविष्यदत्त के सौतेले भाई बंधुदत्त द्वारा उसे धोखा देकर सारी संपत्ति हड़पने तथा बाद में भविष्यदत्त की सच्चरित्रता तथा वीरता के कारण गजपुर के राजा द्वारा बंधुदत्त को दंडित कर भविष्यदत्त से अपनी बेटी के विवाह की कथा है। यह कृति चौदह संधियों में विभक्त है। विवाह के पश्चात् भविष्यदत्त को मुनि, विमल बुद्धि उपदेश देते हैं तथा उन्हीं के माध्यम से उसे अपने पूर्व जन्म की कथा का पता चलता है। अंत में भविष्य दत्त तपस्या करके निर्वाण की प्राप्ति करता है।

यह एक प्रबंध-काव्य है। इसकी विषय वस्तु अत्यंत व्यापक है। इसमें मुख्य कथा के साथ अनेक प्रासंगिक कथाएँ भी हैं जिनका कहीं न कहीं मुख्य कथा के साथ तादात्म्य है। इस काव्य ग्रंथ की एक विशेषता यह है कि इसका नायक कोई राजा या विशिष्ट व्यक्ति न होकर एक साधारण व्यक्ति है।

यह काव्य ग्रंथ कडवकबद्ध शैली में रचित है। इसमें प्रकृति वर्णन, रूप वर्णन, नख-शिख वर्णन आदि का सुंदर अंकन हुआ है। नख-शिख वर्णन के अंतर्गत भविष्यदत्त की पत्नी सुमित्रा के सौंदर्य का चित्रण कवि ने किया है। इसमें वीर, श्रृंगार तथा शांत तीनों रसों का सुंदर समावेश है। इस कृति में धनपाल ने उपमा, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों का प्रयोग किया है जो उनके भावों की अभिव्यक्ति करने में पूर्णरूप से सक्षम हैं।

इस कृति की भाषा साहित्यिक अपभ्रंश मानी जाती है। राहुल सांकृत्यायन ने इसकी भाषा को 'पुरानी हिंदी' भी कहा है। इसमें लोकभाषा के शब्दों का भी समावेश है। धनपाल ने मुहावरों एवं लोकोक्तियों का भी प्रयोग किया है।

कुल मिलाकर यह एक सशक्त चरित काव्य है। केवल राजा या महान व्यक्ति के नायक बनाने के रीतिबद्ध शास्त्रीय विधान से हटकर इस कृति का नायक कवि ने एक साधारण व्यक्ति को बनाया है। इस प्रकार एक नवीन परंपरा का प्रवर्तन भी इस कृति के माध्यम से दिखाई देता है।

बोध प्रश्न

18) निम्नलिखित में से सही कथनों पर सही (✓) का निशान लगाइए:

क) अमीर खुसरो खड़ी बोली के प्रथम कवि थे। ( )

ख) अमीर खुसरो ने धार्मिक साहित्य की रचना की। ( )

ग) विद्यापति दिल्ली के निवासी थे। ( )

घ) कीर्तिलता में राधा-कृष्ण की कथा है। ( )

19) दिए गए शब्दों में से सही शब्द लेकर रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए:

क) अमीर खुसरो का आविर्भाव................ई. में हुआ था। (1215,1235, 1255)

ख) कीर्तिलता एक.............है। (चरित काव्य, शृंगारी काव्य)

ग) पदावली...............भाषा में रचित है। (अवधी, ब्रज, मैथिल)

घ) पदावली पर.............का प्रभाव द्रष्टव्य है। (कबीर, गोरखनाथ, जयदेव)

20) 'विद्यापति की पदावली' के विषय का विवेचन चार पंक्तियों में कीजिए:

....

....

....

....

21) अमीर खुसरो के भाषा ज्ञान की जानकारी तीन पंक्तियों में दीजिए:

....

....

....

4.8 सारांश

इस इकाई में आपने आदिकालीन काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों जैन साहित्य, सिद्ध साहित्य, नाथ साहित्य, चारण कवियों द्वारा रचित साहित्य तथा स्फुट लौकिक साहित्य के विषय में पढ़ा। जैन,नाथ तथा सिद्ध कवियों द्वारा रचित साहित्य धार्मिक साहित्य की कोटि में आता है। रासो के नाम से जिस साहित्य की रचना की गई उसे तीन वर्गों में विभक्त किया

जाता है- वीरगाथात्मक, श्रृंगारपरक तथा धार्मिक। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जान गए होंगे कि वीरगाथात्मक रासो काव्य की रचना दरबारी चारण कवियों ने की जिनका मूल उद्देश्य आश्रयदाता राजा की प्रशस्ति का गायन करना था। श्रृंगारपरक रासो ग्रंथ प्रेम तथा धार्मिक रासो ग्रंथ धर्मोपदेश से संबद्ध हैं।

वीरगाथात्मक रासो ग्रंथों की भाषा 'डिंगल या पिंगल' है। श्रृंगारपरक तथा धार्मिक रासो ग्रंथ, अपभ्रंश या पुरानी हिंदी में रचे गए। वीरगाथात्मक रासो ग्रंथों में यद्यपि आश्रयदाता राजा का जीवन चरित तथा विशेष घटनाएँ वर्णित हैं परंतु वे ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं हैं। उनमें कल्पना तथा अत्युक्तिपूर्ण वर्णनों की अधिकता है क्योंकि कवियों का उद्देश्य कविता लेखन तथा राजा की प्रशस्ति करना था। इस इकाई को पढ़ने के बाद अब आप प्रमुख रासो कृतियों, उनकी विशेषताओं तथा भाषा एवं शिल्प का विश्लेषण कर सकते हैं।

फुटकर लौकिक साहित्य के अंतर्गत अमीर खुसरो, विद्यापति की रचनाएँ तथा धनपाल कवि की रचना आती है। अमीर खुसरो की रचनाएँ हास्य एवं विनोद प्रधान है तथा विद्यापति का काव्य श्रृंगारी काव्य है जिसमें कृष्ण राधा को नायक नायिका बनाया गया है। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप अमीर खुसरो एवं विद्यापति काव्य की विशेषताएँ बता सकते हैं।

4.9 उपयोगी पुस्तकें

हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली (भाग-3) : हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

हिंदी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

हिंदी साहित्य का इतिहास : सं. डॉ. नगेन्द्र, नैशलन पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली।

आदिकाल की भूमिका : पुरुषोत्तम प्रसाद असोपा, सूर्य प्रकाशन मन्दिर, बीकानेर।

हिंदी साहित्य का इतिहास : लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

हिंदी साहित्य का आदिकाल : हजारीप्रसाद द्विवेदी, बिहार, राष्ट्रभाषा परिषद, पटना।

4.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

1) क) पाद ख) सरहपा ग) गोरखनाथ घ) नौ

2) सरहपा को सरहपाद तथा राहुलभद्र नामों से भी जाना जाता है। इनका काल 769 ई. माना गया है। इनके प्रसिद्ध ग्रंथ कायाकोश, दोहाकोष तथा सरहपाद गीतिका हैं। इनके ग्रंथों की भाषा पर शौरसेनी अपभ्रंश का प्रभाव है।

3) क) ✓ ख) ✕ घ) ✓

4) क) नौ ख) राम, कृष्ण ग) अहिंसा

5) देखिए 4.2.3 में 'पुष्पदंत'

6) क) (i)

   ख) (ii)

7) क) उपदेश रसायन रास

   ख) चंदनबाला रास

   ग) भरतेश्वर बाहुबलि रास

8) क) पृथ्वीराज चौहान

   ख) जगनिक

   ग) ब्रज

9) क) ✓

   ख) ✕

10) देखिए 4.4.1 में पृथ्वीराज रासो

11) देखिए 4.4.1 में परमाल रासो

12) क) अब्दुर्रहमान

   ख) विग्रहराज तृतीय

   ग) अपभ्रंश

   घ) खंडकाव्य

13) संदेश परंपरा का।

14) यह कृति जैन-रास-परंपरा की प्रवर्तक कृति मानी जाती है। भाषा प्राचीन राजस्थानी तथा गुजराती से प्रभावित अपभ्रंश है।

15) क) ✓

   ख) ✕

   ग) ✕

   घ) ✓

16) देखिए 4.6.1

17) क) प्रबंध

   ख) चउपइ, दूहा

   ग) डिंगल

18) क) ✓ ख) ✕ ग) ✕ घ) ✕

19) क) 1255 ख) चरितकाव्य ग) मैथिल घ) जयदेव

20) देखिए 4.7.2

21) देखिए 4.7.1

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY